"स्पन्दसर्वस्व एवं बन्ध – मोक्ष"

"Spandasarvasva and Bodage-Salvation"



स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय की
एम॰फिल्॰ उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत
लघु शोधप्रबन्ध

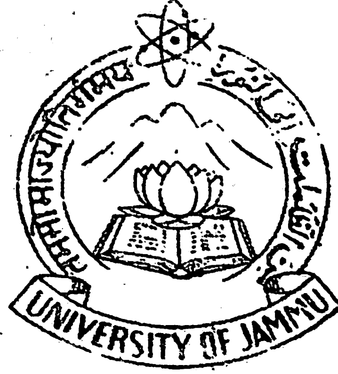
निर्देशक :
डॉ॰ जगीर सिंह
(एम॰ए॰, एम॰फिल॰, पी॰एच॰डी॰)
रीडर,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू (तवी)

शोध छात्रा :
राकेश कुमारी

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
मई, 2002

"प्रश्नोपनिषद् और प्राणविद्या"

(Prashnopanisada Aur Pranvidya)



स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की
एम्. फिल्. की उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत
लघु-शोधप्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ0 जगीर सिंह
प्राध्यापक
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू तवी - 180006

शोधच्छात्रा,
शिशु खजूरिया
एम.ए. (संस्कृत)
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

नवम्बर-2006

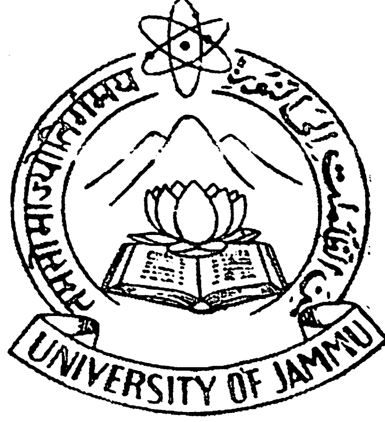
IInd copy

forwarded

28/11/06

"प्रश्नोपनिषद् और प्राणविद्या"

(Prashnopanisad Aur Pranvidya)



स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की
एम्. फिल्. की उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत
लघु-शोधप्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ0 जगीर सिंह
प्राध्यापक
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू तवी - 180006

शोधच्छात्रा
शिशु खजूरिया
एम.ए. (संस्कृत)
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

नवम्बर-2006

CERTIFICATE

It is to certify that ***Miss. SHISHU KHAJURIA*** has worked under my supervision and that work done by her is worthy of consideration for the award of Degree of Master of Philosophy in Sanskrit. The title of her dissertation is –

"प्रश्नोपनिषद् और प्राणविद्या"

(Prashnopanisad Aur Pranvidya)

It is further certified that :-

a) This dissertation is the original research work of the candidate herself.

b) The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by statutes of Jammu University;

c) The Topic has been duly approved by the M.Phil (Sanskrit) Committee of the P.G. Deptt. of Sanskrit, Jammu University, Jammu.

d) The candidate has put her attendance and attended the Seminars in the Sanskrit Department under rule.

e) The work and conduct of the candidate remained satisfactory during her research period.

Dated :- Nov, 2K6.

(Dr. Jagir Singh)
Supervisor,
Reader,
P.G. Deptt. of Sanskrit,
Jammu University of Jammu
Tawi (J &K)

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

मेरा जन्म धार्मिक विचारधारा रखने वाले परिवार में हुआ है। मेरे परम पूजनीय पिता जी श्री ओम प्रकाश खजूरिया और माता श्रीमति निर्मल कुमारी दोनों ही बहुत उदार, धार्मिक और सनातक संस्कृति के अनुसरण करने वाले हैं। उनके इन संस्कारों का प्रभाव मुझ पर भी पड़ा। उनकी पवित्र छत्रछाया में मेरा बचपन बहुत ही आनन्दमय वातावरण में व्यतीत हुआ। दसवीं तक की शिक्षा मैने अपने गाँव गाड़ी गढ़ में ही प्राप्त की। बारहवीं की शिक्षा मैंने मीरां साहिब नामक गाँव से प्राप्त की तभी मैंने अन्य विषयों के साथ संस्कृत को चुना। उस समय मुझे संस्कृत का थोड़ा भी ज्ञान नहीं था। बस थोड़ी-सी मन में इच्छा हुई कि मैं एक विषय संस्कृत का भी लूँ, अतः मैंने अन्य विषयों के साथ संस्कृत को चुना।

स्नातक स्तर की शिक्षा मैंने गांधीनगर महिला महाविद्यालय से की। तदोपरान्त उच्चशिक्षा हेतु जम्मू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में प्रवेश किया और प्रथम श्रेणी में संस्कृत स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त अनुसन्धान कार्य करने की अभिलाषा से मैने एम. फिल्. में प्रवेश लिया। जब मैंने इस विभाग में प्रवेश लिया, तो हमारे दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक **डॉ0 जगीर सिंह** जी के स्वभाव से मैं तभी से प्रभावित रही हुँ। मैंने अपने निर्देशक **डॉ0 जगीर सिंह** जी को पहले से ही अवगत करवा दिया कि मैं 'प्रश्नोपनिषद और प्राणविद्या'' पर शोध करना चाहती हूँ। तो मेरी रूचि को देखकर उन्होंनें अपनी स्वीकृति दे दी। उनके परामर्श और उनके सुझाव और प्रेरणापूर्वक शब्दों से **''प्रश्नोपनिषद् और प्राणविद्या''** पर लघु शोध प्रबन्ध का चयन किया। इस लघु शोध प्रबन्ध को मैंने पाँच अध्यायों में विभाजित किया है -

इसके प्रथम अध्याय में उपनिषद् साहित्य का संक्षिप्त इतिहास उपलब्ध होता है, जिसमें उपनिषद् से तात्पर्य, उपनिषदों की संख्या, उपनिषद् साहित्य का महत्त्व और उपनिषदों में प्रश्नोपनिषद् का स्थान आदि पर विचार प्रकट किये गये हैं।

द्वितीय अध्याय में प्राणविद्या का वर्णन किया गया है, जिसमें प्राण से अभिप्राय, उसके भेद और प्राण का सामान्यरूप और विशेषरूप तथा प्राणायाम विधि पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय में प्राण और रयि के स्वरूप एवं विविध रूपों का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में प्राणी और उनके धारक देवता, प्रकाशक देवता, प्राण की सर्वश्रेष्ठता एवं सर्वात्मरूपता तथा ब्रह्मरूपता का वर्णन किया है।

पञ्चम अध्याय में प्राण की उत्पत्ति, शरीर में प्रवेश, नानारूपों में विभाजन, वासस्थान एवं कार्य तथा शरीर से निष्क्रमण आदि विषय को प्रस्तुत किया है।

इसके अतिरिक्त उपसंहार में मैंने परब्रह्मपरमात्मा अर्थात् ॐकार का वर्णन किया है, क्योंकि वही परब्रह्मपरमात्मा है, जिसके अन्दर समस्त विश्व सूक्ष्म रूप में व्याप्त है।

इस लघु शोधकार्य को पूर्ण करने का मुख्य श्रेय महानुभाव **डॉ0 जगीर सिंह** जी को जाता है, जो समय-समय पर इस शोधकार्य को पूर्ण करने में मेरे सहायक हुए तथा ज्ञानपूर्ण निर्देशन तथा मृदुल व्यवहार से शोधकार्य में आने वाली कठिनाईयाँ दूर करते रहे और इस प्रकार शोधकार्य में सफलता प्राप्त हुई। इनके प्रति आभार प्रकट करने मात्र से ही मैं ऋण मुक्त नहीं हो सकती हूँ, परन्तु फिर भी औपचारिक रूप में उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। मैं अपने विभाग की अध्यक्षा **डॉ0 रमणिका जलाली** तथा अन्य प्राध्यापकों की भी आभारी हूँ, जिन्होंने मेरा सम्पूर्ण सहयोग दिया।

संस्कृत विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष **श्रीमति विजय कौल** तथा **जतिन शर्मा** का भी धन्यावाद करती हूँ, जिन्होंने मुझे सामग्री-संकलन में सहायता की है।

मैं **रघुनाथ पुस्तकालय** और **विद्यापीठ** के कर्मचारीवर्ग का भी धन्यावाद प्रकट करती हूँ, जिन्होंने सामग्री संकलन में मेरी सहायता की।

मैं अपने **माता-पिता, भैया** और **बहिनों** के प्रति भी बहुत आभारी हूँ , जिन्होंने मुझे हर प्रकार का सहयोग दिया और मुझे शोधकार्य करने की प्रेरणा दी।

संगणक (कम्प्यूटर) लिपिक **अशोक कुमार रैणा जी** को भी सुन्दर टंकण एवं सहयोग हेतु मैं धन्यवाद देती हूँ ।

अन्त में पुनः मैं विशेषकर उस **ईश्वर को कोटि-कोटि प्रणाम** करती हूँ और उनकी बहुत आभारी हूँ , जिनकी कृपा से मैं आज इस शोध कार्य को सम्पूर्ण कर रही हूँ ।

विनीत अनुसन्धातृ

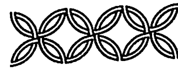
Shishu Khajuria

नवम्बर, 2006 **शिशु खजूरिया**

शब्द संङ्केत सूची

संकेत		ग्रन्थ का नाम
1. अथर्व0 वे0	–	अथर्ववेद
2. ईश0 उप0	–	ईशावास्योपनिषद्
3. ऋ0 वे0	–	ऋग्वेद
4. ऐत0 उप0	–	ऐतरेयोपनिषद्
5. केन0 उप0	–	केनोपनिषद्
6. कठ0 उप0	–	कठोपनिषद्
7. कौ0 उप0	–	कौषीतकिब्रह्मणोपनिषद्
8. च0 सं0	–	चरक संहिता
9. छा0 उप0	–	छान्दोग्योपनिषद्
10. जा0 द0 उप0	–	जाबालदर्शनोपनिषद्
11. तै0 उप0	–	तैत्तिरीयोपनिषद्
12. त0 लो0	–	तन्त्रालोक
13. प0 त0 विवेक	–	परमार्थतत्त्वविवेक
14. प्र0 उप0	–	प्रश्नोपनिषद्
15. प्रा0 वि0	–	प्राण विद्या
16. बृहद0 उप0	–	बृहदारण्यकोपनिषद्
17. ब्र0 सू0 शां0 भ0	–	ब्रह्म सूत्रशांकर भाष्य
18. ब्र0 उप0	–	ब्रह्मोपनिषद्
19. मा0 उप0	–	माण्डूक्योपनिषद्

20. म0 उप0	-	मुण्डकोपनिषद्
21. यो0 सू0	-	योग सूत्र
22. यो0 द0	-	योग दर्शन
23. वा0 य0	-	वाजसनेयि संहिता यजुर्वेद
24. वे0 सा0	-	वेदान्तसार
25. श्वेत0 उप0	-	श्वेताश्वतरोपनिषद्
26. शि0 पु0	-	शिव पुराण
27. शा0 उप0	-	शाण्डिल्योपनिषद्
28. हा0 स्मृ0	-	हारीत स्मृति
39. श्लो0	-	श्लोक
30. मं0	-	मन्त्र



अध्याय - प्रथम

प्रथम अध्याय

उपनिषद् साहित्य का संक्षिप्त इतिहास :

वेदों का अन्तिम भाग होने से तथा सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् ही 'वेदान्त' के नाम से प्रख्यात है। उपनिषदें वैदिक शिक्षाओं का साररूप मानी जाती हैं। इनकी नींव के ऊपर ही बहुत से भारतीय अर्वाचीन दर्शनशाखों और धार्मिक सम्प्रदायों के भवन खड़े हैं। उपनिषद् वस्तुतः वह आध्यात्मिक ज्ञान का मानसरोवर है, जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न नदियाँ निकल कर इस पुण्य स्थल में मानवमात्र के कल्याण और मंगल की कामना से वहती है। वैदिक धर्म की मूल-तत्त्व प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य उपनिषद् ही है, अन्य प्रस्थान गीता और ब्रह्मसूत्र उसी के ऊपर अवलम्बित हैं।

भारतवर्ष में उदय होने वाले समस्त दर्शनों का ही मूलग्रन्थ नहीं है, अपितु जैन और बौद्ध दर्शनों की आधारशिला ही यही हैं। उपनिषदों का आदर्शवाद आज भी मानव के मस्तिष्क को प्रेरणा देने में उतना ही समर्थ है, जितना कि प्राचीन समय में था। उपनिषदों का इसीलिए भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें मिलता है।

उपनिषद् साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

उपनिषद् का तात्पर्य

शास्त्रों में प्रायः दो प्रकार के विषयों का वर्णन मिलता है। पहले विषय के अन्तर्गत संसार का समस्त ज्ञान आता है, जैसे - कृषि, व्यापार, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, इतिहास, राजनीति, विज्ञान, भूगोलादि आदि। दूसरा विषय आत्मा-परमात्मा के ज्ञान विषयक मिलता है, जिसके मुख्य रूप से प्रतिपादक शास्त्र

'उपनिषद्' कहे जाते हैं। उपनिषद् शब्द विषयक नाना मत इस प्रकार माने जाते हैं -

व्याकरणपरक मत

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक षद्लृ 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से निष्पन्न होती है। षदलृ धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है - (1) विशरण या शिशिल करना, (2) गति अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना, (3) अवसादन अर्थात् नाश करना।

उपनिषद् शब्द स्त्रीलिंग है - उप पर निषद् के मेल से बना है। 'उप' का अर्थ समीप अर्थात् निकट है और 'निषद्' का अर्थ बैठना है अर्थात् वह विद्या जो गुरु के समीप बैठकर पढ़ी जाती है, वह 'उपनिषद्' नाम से विख्यात है।

वेदपरक मत

वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त अथवा उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषद् शब्द का अर्थ रहस्यमय सिद्धान्त अर्थात् गुह्यविद्या भी कहा जाता है, क्योंकि उपनिषदों में इति रहस्यम् और इति गुह्यम् शब्द अनेक स्थलों पर मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि रहस्य भी उपनिषद् शब्द का पर्यायवाची शब्द है। वस्तुतः उपनिषदों में ब्रह्म, जीव और जगत् आदि का वर्णन नितान्त रहस्यमय है। उपनिषदों का प्रमुख विषय ब्रह्म का वर्णन करना है। इसलिए इसका नाम ब्रह्मविद्या भी है। जैसे - आयु को बढ़ाने वाला होने से धृत ही आयु कहा गया है, उसी प्रकार उस ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक होने के कारण 'उपनिषद्' नाम पड़ गया है। अतः ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् का मुख्यार्थ है। उपनिषद् का अर्थ विद्या भी है वह विद्या जो ब्रह्म के समीप ले जाने वाली है। इसमें परम श्रेय वस्तु ब्रह्म उपस्थित है। इसलिए विद्या ही उपनिषद् है।

वेदान्तपरक अर्थ

वेद शब्द विद् (ज्ञाने) धातु से निष्पन्न होने वाले 'ज्ञान' के अर्थ में प्रयुक्त होता

है। वेद चार हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद और प्रत्येक वेद के चार-चार भाग हैं - मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् है। मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक में कर्म और उपासना आदि पर अति विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त या उपनिषद् कहा गया है। वेदों का यह भाग ज्ञानपरक है। वैदिक साहित्य दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपनिषदों में ज्ञान-विज्ञान की रत्नराशि सच्चिदानन्दमयी ज्योति के रूप में प्रस्फुटित हो रही है। इसमें कल्याणमय ज्ञान का अखण्ड और अनन्त प्रकाश भरा है, जिसके ऊपर बहुत से भारतीय दर्शन, शास्त्र और धार्मिक सम्प्रदायों के विचार रूपी भवन खड़े हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों से सम्बन्धित अर्थात् केवल वेदों की कर्मकाण्ड सम्बन्धी व्याख्या उपलब्ध होती है। उपनिषदों में ऋषियों ने ज्ञानकाण्ड को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंनें चिन्तन-मनन और अपनी प्रतिभा के बल पर आत्मसाक्षात्कार किया है।

उपनिषदों में वेद के प्रतीकों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यद्यपि उपनिषदों की भाषा अधिक प्रवाहमयी है, तथापि वेद और ब्राह्मणों की भाषा से अधिक सरल है। बृहद् वैदिक साहित्य में आरण्यक ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषद् ग्रन्थों का क्रम आता है उपनिषद ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

दार्शनिक मत

जैसा कि व्याकरण की दृष्टि से बतलाया गया है कि उपनिषद् शब्द उपसर्गपूर्वक निषद् धातु से बना हे, जिसका अभिप्राय पास बैठना होता है। दार्शनिक रूप से विचार किया जाए, तो पता चलता है कि उप+वास और उप+निषद् का एक ही अध्यात्मपरक अर्थ निकलता है। जैसा कि कठोपनिषद् में भी धर्मराज नचिकेता को बतलाते हैं कि विधाता ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है और प्रायः जीव

(अज्ञानी पुरुष) इनके विषयों (शब्दादि) में ही फंसे रहते हैं अर्थात् बहिर्मुख (Extrovert) रहते हैं। अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते। इसीलिये संसारचक्र में पड़े रहते हैं। अतः मोक्ष अथवा परमानन्द प्राप्ति के लिये आत्मा के समीप (उप) बैठना (निषद्) चाहिये। चूंकि उपनिषदें इस आत्मा तथा परमात्मा (ब्रह्म) के समीप बैठाने अर्थात् ज्ञान कराने का माध्यम है। इसलिये इनका उपनिषद् नाम सार्थक है।

<u>शंकराचार्य के मतानुसार</u>

सदानन्द के अनुसार उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप मानकर चलने वाले शास्त्र को वेदान्त या उपनिषद् कहा गया है तथा उपनिषदों का अनुसरण करने वाले शारीरिक (ब्रह्म) सूत्र भी वेदान्त हैं।[1] उपनिषद् शब्द ज्ञानकाण्ड के उस विशाल दार्शनिक साहित्य को बोधिक करता है जो वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ है। यह 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् धातु के क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। उपनिषद् शब्द को तीन अर्थों में विभक्त किया है - गति, अवसादन और विशरण। गति का अर्थ ज्ञान, गतिशील तथा प्राप्ति करना ही प्रतिपादित होता है। शेष दो अर्थों की संगति इस प्रकार है - विशरण का अर्थ है - नाश करना, ब्रह्म की समीपता को प्राप्त कर अविद्या या अज्ञान का विनाश होता है। अवसादन का अर्थ है शिथिल होना, जन्म-मृत्यु का बन्धन शिथिल पड़ जाता है[2] अर्थात् ज्ञान के द्वारा सर्वप्रथम अज्ञान का विनाश होने के पश्चात् उस परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, जो सत्त्व, रजस और तमस तीनों गुणों से परे हैं और काल-स्वभाव-कर्म-जीव आदि का नियामक है, उसी की कलामात्र से शक्तिसम्पन्न होकर प्रपंचमय विश्व बना हुआ है।[3] ऐसे ब्रह्म की

---

1. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणिशारीरिकसूत्रादीनि च (वे0 सा0 १/११)
2. अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्... गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृंदस्य लोकान्तरे पोर्वः पुण्येन प्रवृतस्य अवसादयित्रत्वेन वा... ब्रह्मविद्योपनिषद्। (कठ0 उप0, ..., १/१)
3. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम् ।
   यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः। (श्वेत0 उप0 १/३)

उपलब्धि से जन्म-मृत्यु का बन्धन कट जाता है, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म विद्या की प्राप्ति से हृदय की सब ग्रन्थियां नष्ट होकर सब प्रकार का अज्ञान भी विदीर्ण हो जाता है।[1]

इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है कि उसको जान लेने पर जीवन की सब समस्याएं हल हो जाती हैं। सब से परे और निकट रहने वाले आत्मा का अनुभव कर लेने पर हृदय की गांठ खुल जाती है। समस्त संशय मिट जाते हैं। सब कर्मों का फल देने वाले कर्म नष्ट हो जाते हैं। शाश्वत सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है, जो आत्मा को जन्म लेते हैं।[2]

आत्मानुभव का आनन्द सर्वोच्च और परमानन्द है। इसलिए वही 'रस'-परमानन्द है। परमानन्दरूपी रस को पाकर जीव आनन्द से पूर्ण हो जाता है। यदि वह आकाशवत् सर्वत्र पूर्ण आनन्द रूप न होते, तो दूसरा कौन जीवित रह सकता ? यह आनन्दरूपी ब्रह्म ही सबको आनन्दित करता है।[3]

उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की बड़ी महिमा है। वैदिक वाङ्मय का शीर्षस्थान उपनिषद् है - इस कथनमात्र से ही उपनिषदों की लोकोत्तर महत्ता स्पष्ट हो जाती है। प्राचीनकाल में औपनिषद् ज्ञान का बड़ा महत्त्व था। ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी ही इस विद्या में पारंगत होते थे। वैदिक काल से ही उपनिषदों के स्वाध्याय की परम्परा प्रचलित हुई है। अतः कुछ उपनिषद् तो वेद के ही अंश विशेष हैं । कुछ ब्राह्मभाग और आरण्यकों के

---

1. यदा सर्वे पभिद्यन्ते हृदयस्ये ग्रन्थयः
   अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् (कठ0 उप0 ६/१५)
2. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया।
   क्षीयन्ते चास्य कमार्णि तमिन्दृष्टे परावरे ।। (मु0 उप0 २/८)
3. यद्वे तत्सुकृतं रसो वै सः । रसँह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।
   को ह्येवान्याकः प्राव्याद् चदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाति। (तै0 उप0 अनु0 ७)

अन्तर्गत हैं। कुछ इनकी अपेक्षा अर्वाचीन होने पर भी आज से बहुत प्राचीन काल के हैं। उपनिषद्-ग्रन्थ प्राचीन हों या अर्वाचीन - सभी ज्ञानप्रधान हैं । सबका अविर्भाव किसी-न-किसी गूढ़ तत्त्व या रहस्य का प्रकाशन करने के लिए ही हुआ है। अतः इनके स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि ही होती है। मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ आठ उपनिषदों के नाम आते हैं। इसके अतिरिक्त मद्रास 'अडियार लाइब्रेरी' से भी उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, जो अनेक भागों में विभक्त है। उसमें लगभग २७९ उपनिषदों का प्रकाशन हो गया है। इस पर सब पर दृष्टिपात करने से यह निश्चित होता है कि अब तक लगभग २२० उपनिषदें प्रकाश में आ चुकी हैं, और भी प्रकाशित हुई होंगी तथा कितनी ही अब भी अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हो सकती हैं। प्राचीन काल से ही अद्वितीय ज्ञान-विज्ञानशाली भारतवर्षमें ज्ञान-विज्ञान की अपरिमित ग्रन्थराशि का होना आश्चर्य की बात नहीं है। भारत पर एक-एक करके अनेक बार विदेशी दस्युओं के आक्रमण हुए और अनेक द्वारा हमारी प्राचीन हस्तलिखित कितनी ही पुस्तकों तथा पुस्तकालयों को भस्मावशेष कर दिया गया। इतने पर भी जो कुछ शेष है, उसका भी यदि भारतीय जन आदरपूर्वक अनुशीलन करें तो पूर्वजों की ज्ञान-ज्योति अब भी इस देश में प्रकाशित हो सकती है यहाँ २२० उपनिषदों की नामावली अकारादि क्रम से दी जा रही है :-

1. अक्षमालोपनिषद्
2. अक्षि-उपनिषद्
3. अथर्वशिखोपनिषद्
4. अथर्वशिर उपनिषद्
5. अद्वयतारकोपनिषद्
6. अद्वैतोपनिषद्

7. अद्वैतभावनोपनिषद्
8. अध्यात्मोपनिषद्
9. अनुभवसारोपनिषद्
10. अन्नपूर्णोपनिषद्
11. अमनस्कोपनिषद्
12. अमृतनादोपनिषद्
13. अमृतबिन्दूपनिषद् (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)
14. अरुणोपनिषद्
15. अल्लोपनिषद्
16. अवधूतोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
17. अवधूतोपनिषद् (पद्यात्मक)
18. अव्यक्तोपनिषद्
19. आचमनोपनिषद्
20. आत्मपूजोपनिषद्
21. आत्मप्रबोधोपनिषद् (आत्मबोधोपनिषद्)
22. आत्मोपनिषद् (वाक्यात्मक)
23. आत्मोपनिषद् (पद्यात्मक)
24. आथर्वणद्वितीयोपषिद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
25. आयुर्वेदोपनिषद्
26. आरुणिकोपनिषद् (आरुणेय्युपनिषद्)
27. आषेयोपनिषद्
28. आश्रमोपनिषद्

29. इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

30. ईशावास्योपनिषद् उपनिषस्तुति (शिवरहस्यान्तर्गत, अभी तक अनुपलब्ध)

31. ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

32. एकाक्षरोपनिषद्

33. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)

34. ऐतरेयोपनिषद् (खण्डात्मक)

35. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)

36. कठरुद्रोपनिषद् (कण्ठोपनिषद्)

37. कठोपनिषद्

38. कठश्रुत्युपनिषद्

39. कलिसंतरणोपनिषद् (हरिनामोपनिषद्)

40. कात्यायनोपनिषद्

41. कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्

42. कालाग्निरुद्रोपनिषद्

43. कालिकोपनिषद्

44. कालीमेधादीक्षितोपनिषद्

45. कुण्डिकोपनिषद्

46. कृष्णोपनिषद्

47. केनोपनिषद्

48. कैवल्योपनिषद्

49. कौलोपनिषद्

50. कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्

51. क्षुरिकोपनिषद्
52. गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्
53. गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वतापिन्युपनिषद्)
54. गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् (वरदोत्तरतापिन्युपनिषद्)
55. गर्भोपनिषद्
56. गान्धर्वोपनिषद्
57. गायत्र्युपनिषद्
58. गायत्रीरहस्योपनिषद्
59. गारुडोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मंत्रात्मक)
60. गुह्यकाल्युपनिषद्
61. गुह्यषोढान्यासोपनिषद्
62. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
63. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
64. गोपीचन्दनोपनिषद्
65. चतुर्वेदोपनिषद्
66. चाक्षुषोपनिषद् (चक्षुरुपनिषद्, चक्षूरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्)
67. चित्त्युपनिषद्
68. छागलेयोपनिषद्
69. छान्दोग्योपनिषद्
70. जाबालदर्शनोपनिषद्
71. जाबालोपनिषद्
72. जाबाल्युपनिषद्

73. तारसारोपनिषद्

74. तारोपनिषद्

75. तुरीयातीतोपनिषद् (तीताबधूतो0)

76. तुरीयोपनिषद्

77. तुलस्युपनिषद्

78. तेजोबिन्दूपनिषद्

79. तैत्तिरीयोपनिषद्

80. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्

81. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्

82. त्रिपुरोपनिषद्

83. त्रिपुरामहोपनिषद्

84. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्

85. त्रिसुपर्णोपनिषद्

86. दक्षिणामूर्त्युपनिषद्

87. दत्तात्रेयोपनिषद्

88. दत्तोपनिषद्

89. दुर्वासोपनिषद्

90. (1) देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)

(2) देव्युपनिषद् (शिवरहयान्तर्गत अनुपलब्ध)

91. द्वयोपनिषद्

92. ध्यानबिन्दूपनिषद्

93. नादबिन्दूपनिषद्

94. नारदपरिव्राजकोपनिषद्

95. नारदोपषिद्

96. नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्

97. नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्

98. नारायणोपनिषद् (नारायणाथर्वशीर्ष)

99. निरालम्बोपनिषद्

100. निरुक्तोपनिषद्

101. निर्वाणोपनिषद्

102. नीलरुद्रोपनिषद्

103. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्

104. नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्

105. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्

106. पञ्चब्रह्मोपनिषद्

107. परब्रह्मोपनिषद्

108. परहंसपरिव्राजकोपनिषद्

109. परमहंसोपनिषद्

110. पारमात्मिकोपनिषद्

111. पारायणोपनिषद्

112. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्

113. पिण्डोपनिषद्

114. पीताम्बरोपनिषद्

115. पुरुषसूक्तोपनिषद्

116. पैङ्गलोपनिषद्
117. प्रणवोपनिषद् (पद्यात्मक)
118. प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक)
119. प्रश्नोपनिषद्
120. प्रणाग्निहोत्रोपनिषद्
121. बटुकोपनिषद् (वटुकोपनिषद्)
122. बृह्वचोपनिषद्
123. बाष्कलमन्त्रोपनिषद्
124. विल्वोपनिषद् (पद्यात्मक)
125. विल्वोपनिषद् (वाक्यात्मक)
126. बृहज्जाबालोपनिषद्
127. बृहदारण्यकोपनिषद्
128. ब्रह्मविद्योपनिषद्
129. ब्रह्मोपनिषद्
130. भगवद्गीतोपनिषद्
131. भवसंतरणोपनिषद्
132. भस्मजाबालोपनिषद्
133. भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्)
134. भिक्षुकोपनिषद्
135. मठाम्नायोपनिषद्
136. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
137. मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्)

138. मल्लायुपनिषद्

139. महानारायणोपनिषद् (बृहन्नाराणोपनिषद्, उत्तरनाराणोपनिषद्)

140. महावाक्योपनिषद्

141. महोपनिषद्

142. माण्डूक्योपनिषत्कारिका

143. माण्डूक्योपनिषद्

(क) आगम

(ख) अलातशान्ति

(ग) वैतथ्य

(घ) अद्वैत

144. मुक्तिकोपनिषद्

145. मुण्डकोपनिषद्

146. मुद्गलोपनिषद्

147. मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्

148. मैत्रायण्युपनिषद्

149. मैत्रेय्युपनिषद्

150. यज्ञोपवीतोपनिषद्

151. याज्ञवल्क्योपनिषद्

152. योगकुण्डल्युपनिषद्

153. योगचूड़ामण्युपनिषद्

154. (1) योगतत्त्वोपनिषद

155. (2) योगतत्त्वोपनिषद्

156. योगराजोपनिषद्
157. योगशिखोपनिषद्
158. योगोपनिषद्
159. राजश्यामलारहस्योपनिषद्
160. राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक)
161. राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक)
162. रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
163. रामरहस्योपनिषद्
164. रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
165. रुद्रहृदयोपनिषद्
166. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
167. रुद्रोपनिषद्
168. लक्ष्म्युपनिषद्
169. लाङ्गोपनिषद्
170. लिङ्गलोपनिषद्
171. वज्रपञ्जरोपनिषद्
172. वज्रसूचिकोपनिषद्
173. वनदुर्गोपनिषद्
174. वराहोपनिषद्
175. वासुदेवोपनिषद्
176. विश्रामोपनिषद्
177. विष्णुहृदयोपनिषद्

178. शरभोपनिषद्

179. शाट्यायनीयोपनिषद्

180. शाण्डिल्योपनिषद्

181. शारीरकोपनिषद्

182. (1) शिवसङ्कल्पोपनिषद्

183. (2) शिवसङ्कल्पोपनिषद्

184. शिवोपनिषद्

185. शुकरहस्योपनिषद्

186. शौनकोपनिषद्

187. श्यामोपनिषद्

188. श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्

189. श्रीचक्रोपनिषद्

190. श्रीविद्यातारकोपनिषद्

191. श्रीसूक्तम्

192. श्वेताश्वतरोपनिषद्

193. षोढोपनिषद्

194. सङ्कर्षणोपनिषद्

195. सदानन्दोपनिषद्

196. सन्ध्योपनिषद्

197. सन्यासोपनिषद् (अध्यायात्मक)

198. सन्यासोपनिषद् (वाक्यात्मक)

199. सरस्वतीरहस्योपनिषद्

200. सर्वोपनिषद्

201. स ह वै उपनिषद्

202. संहितोपनिषद्

203. सामरहस्योपनिषद्

204. साविव्युपनिषद्

205. सिद्धान्तविध्लोपनिषद्

206. सिद्धान्तशिखोपनिषद्

207. सिद्धान्तसारोपनिषद्

208. सीतोपनिषद्

209. सुदर्शनोपनिषद्

210. सुबालोपनिषद्

211. सुमुख्युपनिषद्

212. सूर्यतापिन्युपनिषद्

213. सूर्योपनिषद्

214. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्

215. स्कन्दोपनिषद्

216. स्वसंवेद्योपनिषद्

217. हयग्रीवोपनिषद्

218. हंसषोढोपनिषद्

219. हंसोपनिषद्

220. हेरम्बोपनिषद्

उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है।

साधारणतः उपनिषदों की संख्या १०८ से लेकर २२० तक मानी जाती है, जिनमें से लगभग १० उपनिषदें प्रमुख मानी गई हैं। शंकराचार्य ने जिन दश उपनिषदों पर अपना महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है, वे उपनिषदें प्राचीनतम और प्रामाणिक मानी जाती हैं। उनके नाम इस प्रकार से हैं-

1. ईश
2. केन
3. कठ
4. प्रश्न
5. मुण्डक
6. माण्डूक्य
7. तैत्तिरीय
8. ऐतरेय
9. छान्दोग्य
10. बृहदारण्यक ।

1. ईशावास्योपनिषद्

यह माध्यन्दिनशाखीय यजुर्वेद संहिता का 40वां अध्याय है, जिसके आद्य पदों (ईशावास्यमिदं सर्वम्) के आधार पर इस उपनिषद् का नाम रखा गया है। इसमें मात्र 18 मन्त्र हैं। इसके प्रारम्भिक मन्त्र में ही ईश्वर की कण-कण में व्यापकता और वैराग्यभाव से भोगने का परामर्श दिया गया है।[1] और इसमें ज्ञानदृष्टि से कर्म की उपासना का रहस्य समझाया गया है। यह उपनिषद् कर्म-सन्यास की पक्षपाती न होकर यावज्जीवन निष्कामभाव से कर्म करने में विश्वास रखता है।[2] इसमें अद्वैत भावना का स्पष्ट प्रतिपादन है। ब्रह्म के स्वरूप के वर्णन के पश्चात् विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति का सुन्दर विवेचन किया गया है।[3]

---

1. ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।। (ईशा0 उप0 मं0 १)
2. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। (ईशा0 उप0 मं २)
3. विद्यां चाविद्यां च यस्तदवेदोभय सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इवते तमो ये उ सम्भूत्या रताः ।। (ईशा0 उप0 मं0 ११, १२)

2. केन-उपनिषद्

अपने प्रारम्भिक पद (केनेषितं पतति) के कारण यह 'केन' उपनिषद् कहलाती है और तवलकार शाखा से सम्बन्धित होने के कारण तवलकार उपनिषद् भी कहलाती है। यह उपनिषद् छोटे-छोटे चार खण्डों में विभक्त है। उपनिषद् का आरम्भ एक सच्चे जिज्ञासु के प्रश्नों से होता है, जो यह जानना चाहता है कि मनुष्य शरीर के समस्त व्यापार किस शक्ति की प्रेरणा से हो रहे हैं। [1] प्रथम खण्ड में उपास्य ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म में अन्तर बतलाया गया है। दूसरे खण्ड में ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का वर्णन किया गया है। [2] तृतीय और चतुर्थ खण्ड में उमा हेमवती के रोचक आख्यान द्वारा परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का और देवताओं की अल्पशक्तिमत्ता का सुन्दर निदर्शन छोटा होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से यह पर्याप्त रूप से सराहनीय है।

3. कठ-उपनिषद्

कठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत आता है। इस कारण इस उपनिषद् का नाम कठोपनिषद् पड़ गया। इस उपनिषद् में महान् अद्वैत तत्त्व का गम्भीर विश्लेषण मिलता है। इसका विषय दो अध्यायों और पुनः प्रत्येक अध्याय की तीन बल्लियों में विभक्त है। तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतरूप में विद्यमान नचिकेता की उपदेशप्रद कथा से उसका आरम्भ होता है। नचिकेता के बार-बार आग्रह करने पर यमराज अध्यात्म विद्या के गूढ़ रहस्यों का मार्मिक उपदेश देते हैं। इस उपनिषद् का गम्भीर शंखनाद यह है कि वह परब्रह्म मन के द्वारा ही प्राप्त किया जाने योग्य है। इसमें नानात्मक कुछ भी नहीं है। जो व्यक्ति इस जगत् में भिन्नत्व देखता है वह

---

1. ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथम प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वर्दान्ति चक्षुः क्षेत्रं क उदेवो युनक्ति।। (केन0 उप0 मं0 १/१)
2. नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद न द्वेद नो न वेदेति वेद च ।। (केन0 उप0 मं0 २/२)

बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता है। यह भी वही है।[1] नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन वह एक ब्रह्म ही सब प्राणियों की हृदय गुहा में वास करता है। उसी का साक्षात्कार करना शान्ति का एकमात्र साधन है।[2] मूंज की इषिका के समान इस शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि योग द्वारा करनी चाहिए - यही इसका व्यवहारिक उपदेश है।

4. प्रश्न उपनिषद्

इस उपनिषद् में छः ऋषि अध्यात्म विद्या की प्राप्ति के लिए महर्षि पिल्लाद के समीप जाते हैं और उनसे सच्चे जिज्ञासुभाव से अध्यात्मविषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं। प्रश्नों के उत्तर में निबद्ध होने से इसका 'प्रश्न' उपनिषद् नाम सर्वथा सार्थक है। प्रश्नों का विषय अध्यात्म जगत् से सम्बन्धित है, जिनका उत्तर देकर महर्षि पिप्पलाद एक उदात तत्वज्ञानी के रूप में हमारे सामने आते हैं। जानने योग्य प्रश्न ये हैं - (1) प्रजा की उत्पत्ति कहाँ से होती है ?[3] कितने देवता प्रजाओं को धारण करते हैं तथा कौन सर्वश्रेष्ठ है ?[4] प्राणों की उत्पत्ति, शरीर में आगमन तथा उत्क्रमण आदि विषयक प्रश्न।[5] स्वप्न, जागरण तथा स्वप्न दर्शन आदि विषयक प्रश्न ।[6] ॐकार पुरुष की

---

1. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
   मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।। (कठ0 उप0 २/१/११)
2. नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विद्धाति कामान् ।
   तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।। (कठ0 उप0 २/२/१३)
3. भगवन कुतो ह वा इमाः प्रजा प्रजायन्त इति। (प्र0 उप0 १)
4. भगवन्कत्येव देवा प्रजा विधारयन्ते कतर एवत्प्रकाशयन्ते कः पुरेषां वरिष्ठ इति । (प्र0 उप0 २)
5. भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिंशरीर आत्मानं वा
   प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते बाह्यमभिद्यते कथमध्यात्ममिति। (प्र0 उप0 ३)
6. भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिंजाग्रति कतर एष
   देवः स्वप्नपश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सप्रतिष्ठता भवन्तीति। (प्र0 उप0 ४)

उपासना तथा उससे लोकों की विजय [1], षोडशकला-सम्पन्न पुरुष की विवेचना। [2] इन प्रश्नों के उत्तर में अध्यात्म की समस्त समस्याओं का वर्णन बड़ी मनोहरता और गम्भीरता के साथ किया गया है।

5. मुण्डक-उपनिषद्

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् इस उपनिषद् को ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा को सब विद्याओं के आश्रयरूप इस ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया है। इसके तीन मुण्डक तथा प्रत्येक मुण्डक के दो-दो खण्ड हैं। यज्ञीय-अनुष्ठान अदृढ़रूप प्लव है, जिसके द्वारा भवरूपी सागर कभी पार नहीं हो सकता है। यज्ञादि को ही महत्त्व देने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक को पाकर पुनः इस मृत्युलोक पर आते हैं। [3] इस प्रकार कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोषों के पश्चात् ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। पक्षियों का रूपक देकर इस उपनिषद् में जीव और परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध समझाया गया है। [4] वेदान्त शब्द का प्रथम दर्शन इसमें ही उपलब्ध होता है। [5] ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म में लय होने की तुलना नामरूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में लीन होने से की गई है। इसमें सांख्य और वेदान्त के कुछ तथ्यों का दृष्टिगोचर होता है।

6. माण्डूक्य उपनिषद्

यह उपनिषद् आकार से जितनी छोटी है सिद्धान्त में उतनी विशाल और गूढ़

---

1. स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत ।
कतंम वाव स तेन लोकं जयतीति । (प्र0 उप0 ५)
2. षोऽशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुबं नाहमिमं वेद ।
यद्यहमिममवेदि कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति ।
योऽनृतमविभदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तु स तुष्णीं रथमारूथ प्रवव्राज। (प्र0 उप0 ६)
3. इष्टापूर्तम मन्यमाना वरिष्ठं नान्च्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ा ।
नाकस्य पृष्ठे ते सृकृतेऽनुभूत्वेमंलोकं हीनतरं वा विशन्ति ।। (मु0 उप0 १/२/१०)
4. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। (मु0 उप0 ३/१/१)
5. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगादयतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।। (मु0 उप0 ३/२/६)

रहस्यों से भरी पड़ी है। इसमें मात्र 12 वाक्य हैं, जिनमें चतुष्पाद आत्मा का बड़ा मार्मिक और रहस्यमय विवेचन किया गया है।[1] इस उपनिषद् में ॐकार की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, ॐकार ही अक्षर और अविनाशी परमात्मा है। वह सम्पूर्ण जगत् उसकी निकटतम महिमा का बोध कराने वाला है। जो कुछ पहले था तथा जो भविष्य में होने वाला है, वह सब ओंकार है। इन तीनों कालों से परे भी जो कुछ है, वह सब ओंकार ही हैं[2] ॐकार की मात्रायें होती हैं तथा अंश 'अमात्र' होता है। चैतन्य की तदनुरूप चार अवस्थायें होती हैं-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा चैतन्य की अव्यवहार्य तुरीय दशा। इन्हीं का आधिपत्य धारण करने वाला आत्मा भी क्रमशः चार प्रकार का होता है - वैश्श्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा प्रपंचोपशमरूपी शिव, जिनमें अन्तिम ही चैतन्य आत्मा का विशुद्धरूप है।

7. तैत्तिरीय-उपनिषद्

तैत्तिरीय उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यक का अंग है। तैत्तिरीय आरण्यक के दस अध्याय हैं, उनमें सातवां, आठवां और नवम अध्याय को तैत्तिरीय उपनिषद् कहा गया है। शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली में वर्णों के उच्चारण आदि के नियमों के साथ आधिलोकादि उपासनाओं के प्रकार बताये गये हैं।[3] साथ ही अनेक सूक्ष्म विषय यथा जगत् के मूल भूत तत्त्व का बोध कराया गया है। इसके अतिरिक्त शिष्य आदि के आचरण के नियम की भी शिक्षा दी गई है।[4] ब्रह्मानन्दवल्ली में बह्म का बोध उसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् की

---

1. सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् । (मा0 उप0 मं0 २)
2. ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति ।
सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।। (मा0 उप0 मं0 १)
3. शिक्षां व्याख्यास्याम्: । वर्णः स्वरः। मात्रा बलम् । साम सन्तानः ।
अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । (तै0 उप0 अनु0 २, ३)
4. सत्यं वद् धर्मं चर। स्वाध्यायान्म। प्रमदः। आचार्यय प्रियं धनमाहृत्य
प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । (तै0 उप0 १/११)

उत्पत्ति आदि कहकर अन्त में ब्रह्मानन्द के स्वरूप का बोधन करने के निमित्त मनुष्य के आनन्द से लेकर ब्रह्म के आनन्द का बड़ा ही सुन्दर और सुबोधरूप से समझाया गया है।[1] भृगुवल्ली में तप के द्वारा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म आत्म तत्त्व का साक्षात्कार कराने हेतु वरुण पिता भृगु के प्रश्नोत्तर के रूप में दिया गया है।

8. ऐतरेय-उपनिषद्

ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेदीय उपनिषदों में से है। ऐतरेय आरण्यक के पांच भाग हैं, उनमें द्वितीय भाग के ४, ५, ६ अध्यायों को 'ऐतरेयोपनिषद्' कहते हैं। यह तीन छोटे-छोटे अध्यायों में उपनिषदों की शिक्षा का सारांश दिया गया है। प्रथम अध्याय में संसार की उत्पत्ति का प्रश्न उठाया गया है और उसके उत्तर में यह घोषणा कर दी गई है कि प्रारम्भ में यह जगत् केवल एक आत्मा के रूप में ही था।[2] उसके अतिरिक्त कोई अन्य चेष्टा करने वाला नहीं था। उसने सोचा कि मैं लोगों की सृष्टि करूं। तब उसी ने इन लोगों को रचा।[3] मनुष्य का शरीर ही पुरूष के लिए उपयुक्त आयतन सिद्ध किया गया है, जिसके शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में देवताओं ने प्रवेश किया है। तदन्तर परमात्मा उसके मूर्ध-सीमा को विदीर्ण कर प्रवेश करता है[4], तथा जीवभाव को प्राप्त कर भूतों के साथ तदात्म्य रखता है। गुरूकृपा के फलस्वरूप सर्वव्यापक शुद्धस्वरूप का साक्षात्कार होता है तथा इन्द्र की संज्ञा उसे प्राप्त होती है। अन्तिम अध्याय में 'प्रज्ञान' की विशेष महिमा प्रदर्शित है, जिससे निःसन्देह यह उपनिषद् आदर्शवाद का प्रतिपादक सिद्ध होता है।

---

1. यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः । रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । (तै0 उप0 २/७)
2. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।
   नान्यत् किंचन मिषत् ।। (ऐत0 उप0 १/१/१)
3. स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ।
   स इमान् लोकानसृजत् ।। (ऐत0 उप0 १/१/२)
4. स एतमेव सीमानं विदार्येतया द्वारा प्रापद्यत । (ऐत0 उप0, ३/१२)

9. छान्दोग्य-उपनिषद्

यह सामवेदीय उपनिषद् प्राचीनता, गम्भीरता तथा ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से उपनिषदों में नित्तान्त प्रौढ़, प्रामाणिक तथा प्रमेय बहुल है। इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें अन्तिम तीन अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से नित्तान्त महत्त्वपूर्ण है। इसके आरम्भिक अध्यायों में अनेक विद्याओं का ॐकार तथा साम के गूढ़ स्वरूप का विवेचन मनोहरता से किया गया है। तृतीय अध्याय में सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना है। इस उपनिषद् का प्रसिद्ध सिद्धान्त 'सब कुछ ब्रह्म ही है [1], अद्वैतवाद का विजयघोष है। चतुर्थ अध्याय रैक्व का दार्शनिक तथ्य, सत्यकाम जाबाल तथा उसकी माता की कथा वर्णित है [2], पंचम अध्याय में प्रवाहन जैबलि के दार्शनिक सिद्धान्त तथा कैकय अश्वपति के सृष्टि सम्बन्धी तथ्यों का विशाल वर्णन है। षष्ठ अध्याय में महर्षि आरुणी के ऐक्यप्रतिपादक सिद्धान्तों की रोचक व्याख्या है। सप्तम अध्याय में सनत्कुमार तथा नारद आत्मविद्या की चर्चा है। अन्तिम अध्याय में इन्द्र तथा विरोचन की कथा है तथा आत्मप्रापित के व्यावहारिक उपायों का सुन्दर संकेत किया गया है।

10. बृहदारण्यक-उपनिषद्

यह उपनिषद् परिमाण में ही विशाल नहीं है, प्रत्युत् तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन में भी गम्भीर और प्रमाणिक है। यह बृहत्तम, विपुलकाय और प्राचीनतम उपनिषद् सर्वत्र स्वीकृत है। इसमें केवल छः अध्याय हैं। इस उपनिषद् में दार्शनिक तथ्य मुख्यरूप से वर्णित हैं। इसमें सर्वत्र याज्ञवल्क्य की आध्यात्मिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार है। प्रथम अध्याय में मृत्यु के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों के ग्रसित होने का, प्राण की श्रेष्ठता का और सृष्टि विषयक सिद्धान्तों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में अभिमानी गार्ग्य तथा

---

1. सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा0 उप0 ३/१४/४)
2. सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे । (छा0 उप0 ४/४/१)

शान्तस्वभाव काशी के राजा अजातशत्रु की रोचक कथा है। इसी अध्याय में हमारा प्रथम बार याज्ञवल्क्य से साक्षात्कार होता है, जो अपनी दोनों पत्नियों के बीच धन विभक्त कर वन की ओर प्रस्थान करना चाहते हैं। मैत्रेयी के तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में जनक और याज्ञवल्क्य का आख्यान है। पंचम अध्याय में नाना प्रकार दार्शनिक तथ्यों का विवेचन है, जैसे - नीति-विषयक, सृष्टि-विषयक और परलोक-विषयक तथ्य। षष्ठ अध्याय में जैबलि ने पंचाग्नि-विद्या का विशद विवेचन किया गया है। उनका यह उपदेश बृहदारण्यक की अध्यात्मविद्या का महत्त्वपूर्ण अंग है। परन्तु मैत्रेयी के साथ अध्यात्म चर्चा से स्पष्ट होता है कि सभी प्रकार की सांसारिक सम्पदायें आत्मज्ञान के समक्ष नगण्य हैं। इसलिये आत्मा का ही उपदेश, मनन, चिन्तन और निदिध्यासनादि करना चाहिये, जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है।

उपनिषद् साहित्य का महत्त्व

उपनिषद् साहित्य का विश्व साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद् साहित्य दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वूपर्ण है। भारतीय दर्शनों में सबसे सामान्य एवं प्रभावशाली दर्शन उपनिषदों के आधार पर निर्मित हुआ है। वह उपनिषदों के वाक्यों को परम प्रमाण और चरम सत्य माना जाता है। उनको श्रुति कह कर उद्धृत किया जाता है।

उपनिषद् साहित्य में जीवन और जगत् सम्बन्धी रहस्यों का पूर्ण और सन्तोषजनक विवेचन मिलता है। विभिन्न देशों के विद्वानों ने उपनिषदों का अध्ययन कर उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उपनिषदों में मेघावी मानवों के वे अमूल्य विचार संगृहीत हैं, जो अन्य किसी देश के साहित्य में नहीं पाये जाते हैं।

भारत की सम्पूर्ण संस्कृति और विचारधारा उपनिषदों के विचारों से परिपुष्ट हैं। प्राचीनकाल में उपनिषदें मानव जीवन की पथप्रदर्शक थीं। आज के युग में भी

उपनिषदों को अत्यधिक सम्मान प्राप्त है। आधुनिक युग में मानव को यथार्थ जीवन का अर्थ समझाने और उचित प्रगतिशील मार्ग पर चलने के लिए पथ-प्रदर्शन कराती है। उपनिषदों में ब्रह्म और जीव अर्थात् जगत् के मूल तत्त्व और व्यक्ति के अपने नश्वर स्वरूप के विषय में विभिन्न प्रकार के वार्तालापों द्वारा व्याख्यान दिये गये हैं। यह निर्धारित किया गया है कि इन दोनों में क्या सम्बन्ध हैं ? इसके अन्तर्गत तत्सम्बन्धी अनेक विषयों पर यथा- जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? किस प्रकार उसको प्राप्त किया जाता है ? विभिन्न प्रकार के गुरू-शिष्य संवादों द्वारा शिक्षा प्रतिपादित की गई है। भारतीय जीवन शैली के परम आधार यही उपनिषद् ग्रन्थ हैं।

उपनिषदों के अनुसार मनुष्य जीवन का लक्ष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर वही आत्मस्वरूप होना और अनुभव करना है। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप अजर, अमर, परमानन्द स्वरूप विभु आत्मा है। वह आत्मा समस्त विश्व में ब्रह्म नाम से व्याप्त है। विश्व उसकी रचना है, उसके द्वारा ही चलित और नियन्त्रित है। उपनिषदों का सबसे ऊंचा गहन और निश्चित् सिद्धान्त यही है। ब्रह्म को सूक्ष्म रूप से व्यक्त करने वाले उपनिषद् वाक्य महावाक्य कहलाते हैं यथा - "मैं ब्रह्म ही हूँ"। "यह आत्मा ब्रह्म है"। "वही तू है"। "सब कुछ ब्रह्म ही है"। इन महावाक्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि विश्व के कण-कण में ब्रह्म अपनी पूर्ण सत्ता और शक्तियों के साथ स्थित है, वही हमारा वास्तविक लक्ष्य है।

उपनिषद् ग्रन्थों से हमें यह शिक्षा मिलती है कि इस संकुचित असत्य और दुखदायी दृष्टि से ऊपर उठकर आत्ममयी दृष्टि को प्राप्त करके तदनुसार व्यवहार करने पर मनुष्य के सब शोकों और दुखों का अन्त होकर परमतृप्ति और परमानन्द का अनुभव करने लगता है। वह संसार के सभी प्राणियों के साथ आत्मीयता, प्रेम, सहानुभूति का अनुभव करने लगता है।

उपनिषदों को मानव चेतना का सर्वोच्च फल कहा गया है। आज का मनुष्य विज्ञान के प्रकाश में ज्ञान और शक्ति के स्रोत का पता लगाने में लगा हुआ है। उपनिषदें शक्ति की महान् निधि है। वह जिस शक्ति का संचार करने में समर्थ हैं, वह ऐसी है कि सम्पूर्ण जगत् को पुनर्जीवन शक्ति और शौर्य प्रदान करने में समर्थ हैं। जगत् की समस्त जातियों, समस्त मतों और सभी सम्प्रदायों के दीन, दुर्बल, दुःखी और पददलित प्राणियों को पुकार-पुकार कर कह रही हैं कि - 'सभी अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त हो जाओ।' यह सबसे ऊंचा ज्ञान है, इसी को परी ज्ञान भी कहते हैं।

ऋषियों ने इस महान् ज्ञान को उपनिषदों के माध्यम से बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है और उसमें गूढ़ रहस्यों को बड़ी सुगमता से समझा दिया गया है। उपनिषद् वेद का ज्ञान काण्ड है। यह सदैव प्रकाशित रहने वाला वह दीपक है जो मानव को सृष्टि के आदि से प्रकाश देता चला आया है, और अन्त तक देता रहेगा।

उपनिषदें शाश्वत ज्ञान की अक्षय भण्डार है यह वह ग्रंथ हैं जो सत्य के द्वार को उन्मुक्त करते हैं उपनिषदों की एक-एक वाणी में वह अमर तेज और वह शान्तिदायी आलोक है, जिसे पढ़कर, गुणकर और आचरण कर कितने ही सिद्ध, योगी और जीवनमुक्त बन गये। इनमें वर्णित विद्यायें कल्पना की ऊंची और मीठी उड़ान मात्र नहीं है, एक सभ्य एवं समुन्नत जाति की सहस्रों वर्षों की गहरी अनुभूतियों का इसमें रस घुला हुआ है और परमार्थिक दृष्टि से क्रियात्मक है।

इस प्रकार यदि देखा जाए तो उपनिषद् साहित्य के एक-एक वचन बहुमूल्य रत्न हैं। हिन्दू जाति के लिए ही गर्व की वस्तु नहीं है, प्रत्युत् मानव जाति के लिए गौरव की वस्तु है। मानवता की सीमा लांघकर ऊपर उठने की उनमें ऐसी-ऐसी युक्तियां बताई गई हैं, जो कभी व्यर्थ होने वाली नहीं हैं। एक सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक ने

उपनिषदों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए एक अवसर पर कहा है-'यह मुझे जीवन में शान्ति देती रही है, और मृत्यु के समय भी शान्ति देंगी। सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जाने वाला हो। यह उच्चतम बुद्धि की उपज है।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैकसमूलर ने उपनिषदों के बारे में एक स्थल पर लिखा है - 'उपनिषद् वेदान्त का आदि स्रोत है और ये ऐसे निबन्ध हैं, जिनमें मुझे मानवीय उच्च भावना आने पर उच्चतम शिखर पर पहुंची हुई प्रतीत पड़ती है।

सहस्रों वर्षों से सरस्वती के ये आलोकमय प्रसाद अकिंचनता में भी कुबेर की समृद्धि अथवा भौतिक अभावों में भी आध्यात्मिक शान्ति की निधि लुटाते जा रहे हैं। इन्हें पाने वालों को कुछ पाना शेष नहीं रह जाता है। कल्पद्रुम के नीचे पहुँचकर कामनाओं का उदय कैसे हो सकता है ?

उपनिषदों में प्रश्नोपनिषद् का स्थान -

यह प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद के ब्राह्मण भागान्तर्गत है। अथर्ववेद के मन्त्रभाग में मुण्डकोपनिषद् है और ब्राह्मण भाग में प्रश्नोपनिषद् है। इसलिए मुण्डकोपनिषद् की पूर्ति करने वाली प्रश्नोपनिषद् है।

अथर्ववेद के तीन उपनिषद् प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् तथा माण्डूक्योपनिषद् प्रमुख दशोपनिषदों में हैं।

प्रश्नोपनिषद् में छः ऋषि अध्यात्म विद्या की प्राप्ति के लिए महर्षि पिप्लाद के समीप जाते हैं और उनसे सच्चे जिज्ञासुभाव से अध्यात्मविषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं। उनके प्रश्न एक दूसरे से सम्बन्ध रखने वाले हैं। प्रश्नों के उत्तर में निबद्ध होने से इसका 'प्रश्न उपनिषद्' नाम सर्वथा सार्थक है। प्रश्नों का विषय अध्यात्म जगत् से सम्बन्धित है, जिनका उत्तर देकर महर्षि उदात तत्त्वज्ञानी के रूप में हमारे सामने आते

हैं। प्रश्नोपनिषद् में प्रश्नों को पूछने वाले ऋषियों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं –

1. कबन्धी कात्यायन
2. भार्गव वैदर्भी
3. कौशल्य आश्वलायन
4. सौर्यायणी गार्ग्य
5. शैब्य सत्यकाम
6. सुकेश भारद्वाज

इन छः ऋषियों ने प्रश्नोपनिषद् में पिप्लाद मुनि से प्रश्न पूछे हैं। प्रश्न इस प्रकार से हैं – प्रजा की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? [1] कितने देवता प्रजाओं को धारण करते हैं ? तथा कौन सर्वश्रेष्ठ है ? [2] प्राणों की उत्पत्ति, शरीर में आगमन तथा उत्क्रमण आदि विषयक प्रश्न। [3] स्वप्न, जगरण तथा स्वप्न दर्शन आदि विषय प्रश्न? [4] ॐकार पुरूष की उपासना तथा उससे लोकों की विजय [5] षोडशकला-सम्पन्न पुरूष का विवेचन [6] इन प्रश्नों के उत्तर में अध्यात्म की समस्त समस्याओं का वर्णन बड़ी मनोहरता और गम्भीरता के साथ किया गया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रश्नोपनिषद् अन्य उपनिषदों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, क्योंकि प्रश्नोपनिषद् में पूछे गए प्रश्नों को जानने की जिज्ञासा इस समस्त संसार के प्रत्येक मनुष्य को होती है। उनकी जिज्ञासा की पूर्ति प्रश्नोपनिषद् के अध्ययन से होती है।

---

1. भगवन कुतो ह वा इमाः प्रजा प्रजायन्त इति । (प्र0 उप0 प्र0 १)
2. भगवन्कत्येव देवा प्रजा विधारयन्ते ।
   कतर एवत्प्रकाशयन्ते कः पुरेषां वरिष्ठ इति (प्र0 उप0 प्र0 २)
3. भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिंशरीर
   आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते बाह्यमभिद्यते कथमध्यात्ममिति । (प्र0 उप0 प्र0 ३)
4. भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिंजाग्रति
   कतर एष देवः स्वप्नपश्यति कस्यैतत्सुखं भवति
   कस्मिन्नु सर्वे सप्रतिष्ठता भवन्तीति (प्र0 उप0 प्र0 ४)
5. स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत
   कतंम वाव स तेन लोक जयतीति (प्र0 उप0 प्र0 ५)
6. षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुबं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदि
   कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति। योऽनृतमविभदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं
   वक्तु स तुष्णी रथमारूथ प्रवब्राज (प्र0 उप0 प्र0 ६)

अध्याय - द्वितीय

द्वितीय अध्याय

प्राण का अभिप्राय :

प्राण परमेश्वर की विश्वव्यापक जीवनी शक्ति है परमात्मा की इस जीवनी शक्ति के अधीन ही यह समस्त संसार है और इसी से सम्पूर्ण विश्व का नियमन भी हो रहा है समष्टि दृष्टि से सर्वत्र प्राण का राज्य है, व्यष्टि दृष्टि से प्रत्येक शरीर में भी प्राण का ही आधिपत्य है प्राणिमात्र के प्रत्येक शरीर में जो इन्द्रियादिक शक्तियाँ हैं तथा विभिन्न अवयव और इन्द्रियाँ हैं वे सब प्राण के वश में ही हैं। प्राण के अधीन ही सब शरीर है। शरीर में प्राण ही सब इन्द्रियों और अवयवों का देवता है। मनुष्य के शरीर में अनेक भौतिक और अभौतिक अनेक शक्तियाँ हैं। उन सब शक्तियों में प्राण शक्ति का महत्त्व सर्वोपरि है सब अन्य शक्तियों के अस्त होने पर भी प्राण शक्ति कार्य करती रहती है परन्तु प्राण के अस्त होने पर कोई शक्ति कार्य करने में समर्थ नहीं रहती है। शरीर से श्वास-प्रश्वास के रूप में प्राण चलता है और जन्म से मृत्युपर्यन्त यह कार्य करता रहता है शरीर से आत्मा के निकल जाने पर सभी इन्द्रियाँ और अवयव कार्य करना बन्द कर देते हैं अर्थात् उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है। तथापि प्राण कुछ कालपर्यन्त कार्य करता रहता है इसलिए सब में प्राण ही मुख्य और श्रेष्ठ हैं प्राण अणुरूप से समस्त शरीर में व्याप्त है यह प्रत्यक्ष दर्शन का विषय नहीं है यह प्राण शक्ति शरीर में सिर से पांव तक जाल की तरह फैली हुई है प्राण के बिना इस शरीर की स्थिति नहीं हो सकती अर्थात् प्राण के नियन्त्रित और बलिष्ट होने पर शरीर सुदृढ़ और निरोग हो सकता है और प्राण के निर्बल होने पर शरीर निर्बल हो जाता है। माण्डूक्य उपनिषद् में प्राण के सम्बन्ध में कहा गया है कि जितने भी पदार्थ विद्यमान हैं, उन सबकी उत्पत्ति प्राण से ही होती है। बीजात्मक रूप से प्राण ही सब

की उत्पत्ति करता है। चेतन पुरूष चैतन्य के आभासभूत जीवों को पृथक्-पृथक् प्रकट करता है। समस्त पदार्थ अपनी उत्पत्ति से पूर्व प्राणात्मक बीजरूप से सद्रूप ही होते हैं।[1] इसीलिये श्रुति भी कहती है कि यह प्राण ब्रह्म ही है।[2]

गर्भ से ही प्राण कार्य करता रहता है। प्राण की प्रेरणा से ही गर्भ बाहर आता है। प्राण के द्वारा ही पिता के सब गुण, कर्म, स्वभाव और शक्तियाँ पुत्र में आती हैं। प्राण में आलस्य और संकोच नहीं होता, क्योंकि इसका ब्रह्म और आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है और इस शरीर में रहता हुआ खड़ा रह कर पहरा करता है। अन्य इन्द्रियाँ थकती और शिथिल होती हैं और सोती हैं, परन्तु प्राण कभी नहीं थकता और न ही विश्राम लेता है। इसके विश्राम करने पर मृत्यु हो जाती है।

प्राण के अधीन सब कुछ है। प्राण पृथिवी पर है, अन्तरिक्ष में है और द्युलोक में है, द्युलोक का प्राण सूर्य किरणों द्वारा पृथिवी पर आता है। अन्तरिक्ष-प्राण वृष्टि द्वारा पृथिवी पर पहुँचता है और पृथिवी पर का प्राण यहाँ सदा ही वायुरूप में रहता है। प्राण सब शक्तियों में सबसे श्रेष्ठ शक्ति है। प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राण से सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राण से जीवित रहते हैं और अन्त में प्राण में ही जाकर मिल जाते हैं।[3] प्राण का मूल अर्थ श्वास है। श्वास मनुष्य के जीवन का सर्वस्व समझा जाता है। अतः प्राण ही जीवन तत्त्व का रूप ग्रहण कर लेता है। जिस प्रकार मनुष्य का जीवन तत्त्व प्राण कहलाने लगता है, उसी प्रकार विश्व का प्राण तत्त्व भी प्राण कहलाने लगता है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार उषस्ति चाक्रायण से पूछा गया कि समस्त पदार्थों का परम तत्त्व क्या है ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि "प्राण"। क्योंकि

---

1. "प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्व जनयति प्राणश्चेतोऽशून्पुरुषः पृथक् ।। (मा० उप० १/६)
2. "ब्रह्मैवेदम्" - श्रुति
3. प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
प्राणेन जातानि जीवन्ति प्राणं प्रयन्त्यभि सं विशन्तीति - (तै० उप० ३/३)

वस्तुतः प्राण में ही समस्त सत्तायें प्रवेश करती हैं और प्राण से ही उनका मूल उद्भव होता है। प्राण ही दीर्घ आयु देने वाला है। प्राण ही सब का पिता और पालक है और सर्वत्र व्यापक भी है। मृत्यु रोग और बल - ये सब प्राण के कारण ही होते हैं। प्राण ही सब औषधियों की औषधि है। प्राण के कारण ही शरीर के सब दोष दूर होते हैं। प्राण की अनुकुलता न होने पर कोई औषध कार्य नहीं कर सकती। श्रेष्ठ पुरूष प्राण को वश में करके बल प्राप्त कर सकता है।

चारों वेदों में भी प्राण शक्ति को सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार प्राण शक्ति से वायु की उत्पत्ति हुई है। यह वायु हमारा पृथिवी स्थानीय प्राण है। वायु के बिना क्षणमात्र भी जीवित रहना कठिन है। सभी प्राणी इस वायु को चाहते हैं , क्योंकि परमेशवर की प्राणशक्ति से इसकी उत्पत्ति हुई है। यह वायु जब हमारे अन्दर जाती है, तब उसके साथ परमेश्वर की प्राण शक्ति हमारे अन्दर जाती है और उससे हमारा जीवन सक्षम होता है।[1] प्राण ही आयु है। जब तक प्राण रहता है, तब तक ही जीवन रहता है। इसलिए जो दीर्घ आयु चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने प्राण को तथा प्राण के स्थान को बलवान बनावें। प्राण का स्थान फेफड़ों में होता है। फेफड़े बलवान करने से प्राण में बल आ जाता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।[2]

यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी प्राण को ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। जैसे रथ की नाभि में आरे लगे रहते हैं, उसी तरह ऋक, यजुः साम, यज्ञ तथा क्षत्रिय और ब्राह्मण ये सब प्राण में ही स्थित हैं।[3]

---

1. प्राणाद्वायुरजायता (ऋ0 १०/९८/१३, अथर्व0 १९/६/७)
2. आयुर्नः प्राणः (ऋ0 वे0 १/६६/१)
3. अरा इव रथनाभौ प्राणो सर्व प्रतिष्ठितम्
ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च (प्र0 उप0)

यजुर्वेद में प्राण के विषय में कहा गया है कि प्राण की शक्ति बढ़ाने की बड़ी ही आवश्यकता होती है, क्योंकि प्राण की शक्ति के साथ ही सब अवयवों की शक्ति सम्बन्ध रखती है।[1] आत्मा की शक्ति से प्रेरित प्राण प्रत्येक अंग में पहुँचता है। आत्मा की शक्ति से प्रेरित उदान प्रत्येक अंग में विद्यमान होता है।[2] इस प्रकार आन्तरिक शक्ति का वर्णन यजुर्वेद में मिलता है। प्रत्येक अंग में प्राण रहता है और वहाँ आत्मा की प्रेरणा से कार्य करता है। इस मंत्र के उपदेश से यह सूचना मिलती है कि जिस अंग, अवयव अथवा इन्द्रिय में प्राण की शक्ति न्यून होगी, वहाँ आत्मा की प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा प्राण की शक्ति बढ़ायी जा सकती है। तृप्ति और पवित्रता से ही प्राण का संरक्षण होता है। अतृप्त इन्द्रियाँ होने से मनुष्य भोगों की ओर जाता है और पतित हो जाता है। इस प्रकार भोगों में फँसे हुए मनुष्य अपनी प्राण की शक्ति व्यर्थ खो बैठते हैं। इसलिए प्राण का संवर्धन करने वाले मनुष्यों को चाहिए कि वे अपना जीवन पवित्रता और नित्य तृप्त वृत्ति से व्यतीत करें। अपवित्रता और असंतुष्टता ये दो दोष प्राण की शक्ति घटाने वाले होते हैं। शक्ति घटाने वाला कोई कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्राण शक्ति नासिका के साथ सम्बन्ध रखती है और जब प्राण शक्ति बलवती होती है तब वीर्य बढ़ता है और स्थिर होता है। वीर्य और प्राण ये दोनों शक्तियाँ साथ-साथ रहती हैं। शरीर में वीर्य रहने पर प्राण रहता है और प्राण के साथ वीर्य भी रहता है। एक दूसरे के आश्रय से रहने वाली ये शक्तियाँ हैं, जो मनुष्य ब्रह्मचर्य की रक्षा कर के ऊर्ध्वरेता बनते हैं, उनका प्राण भी बलवान हो जाता है और उनको आसानी से प्राणायाम की सिद्धि होती

---

1. प्राणस्त आप्यायताम् - (वा0 य0 ६/१५)
2. ऐन्द्रः प्राणो अंगे-अंगे निदिध्यदैन्द्र उदानों अंगे-अंगे निधीतः । (वा0 य0 ६/२६)

है। तथा जो आरम्भ से प्राणायाम का अभ्यास नियमपूर्वक करते हैं, उनका वीर्य स्थिर हो जाता है। यद्यपि किसी कारणवश प्रथम आयु में किसी का ब्रह्मचर्य न रहा हो, तो भी वह नियमपूर्वक अनुष्ठान से उत्तर आयु में प्राण साधन से अपने शरीर में प्राण शक्ति का संवर्धन और वीर्यरक्षण कर सकता है। प्राण शक्ति के संवर्धन के उपायों में गायन भी एक उपाय है। [1] सामवेद में भी प्राण के विषय में कहा गया है सामवेद गायन और उपासना का वेद है। ईश-उपासना और ईशगुणों के गायन से प्राण का बल बढ़ता है। केवल गानविद्या से भी मन को एकाग्रता और शान्ति प्राप्त होती हैं इसलिए गायन से दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। गायक लोग यदि दुर्व्यसनों में न फँसें तो वे अन्यों की अपेक्षा अधिक दीर्घ आयु प्राप्त कर सकते हैं। गायन का आरोग्य के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपासना के साथ भी गायन का सम्बन्ध है। गायन से उपासना में मन अत्यन्त तल्लीन होता है और यही तल्लीनता प्राण शक्ति को प्रबल करने वाली होती है। यह बात और है कि गायन का धंधा करने वाले आज के स्त्री पुरूषों ने अपना आचरण बहुत गिरा दिया है। परन्तु यह दोष गायन का नहीं है, वह उन मनुष्यों का दोष है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति अपने प्राण को बलवान करना चाहते हैं उन्हें सामगान अवश्य सीखना चाहिये। [2] अथर्ववेद में प्राण के विषय में कहा गया है कि प्राण की सहायता से मृत्यु से संरक्षण होता है। प्राण वश में आ जाने पर तो मृत्यु का भय नहीं रहता। मृत्यु का भय हटाने के लिए प्राण की प्रसन्नता करनी चाहिए। [3] जैसा कि अथर्ववेद में कहा गया है कि 'हे प्राण हमारे प्राण की रक्षण कर ! हे जीवन ! हमारे जीवन को सुखमय कर !

---

1. प्राणं न वीर्य नसि (वा0 य0 २१/४९)
2. साम प्राण प्रपद्ये (वा0 य0 ३६/१)
3.क) प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा - (अथर्व0 , २/१६/३)
ख) मेमं प्राणो हासीन्मो अपानः - (अथर्व0 , २/२८/३)

हे अनियम ! अनियम के पाशों से हमें बचा ।[1]

अपनी प्राणशक्ति का संरक्षण करना चाहिए। अपने जीवन को मंगलमय बनाना चाहिये। निर्ऋति के जालों से बचना चाहिए। ऋति का अर्थ "प्रगति, उन्नति, सन्मार्ग, उत्कर्ष, योग्यता, सत्य, सीधा मार्ग, संरक्षण, पवित्रता" होता है अर्थात् निर्ऋति का अर्थ कुमार्ग, अपकर्ष, अयोग्य रीति, असन्मार्ग, टेढी चाल, अपवित्रता, यह होता है। इसलिये इस टेढे मार्ग के भ्रम जाल से बचने की सूचना उक्त मंत्र में हमें मिलती है। प्रत्येक उन्नति चाहने वाले मनुष्य को सावधान रहते हुए अपने आपको इस अधोगति के मार्ग से बचाना चाहिये। निर्ऋति के जाल प्रारम्भ में बड़े सुन्दर दिखाई देते हैं, परन्तु जो उनमें एक बार फँस जाता है, उसका उठना बड़ा मुश्किल हो जाता है। इसलिए हमें निर्ऋतिके का रास्ता छोड़कर सन्मार्ग की ओर चलते हुए प्राण शक्ति का संरक्षण करना चाहिए।

इस प्रकार चारों वेदों में प्राण को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है और उसकी महिमा का गुणगान किया गया है जैसे रथ नाभि में आरे लगे रहते हैं। उसी तरह ऋक, यजुः, साम, यज्ञ तथा क्षत्रिय और ब्राह्मण ये सब प्राण में ही स्थित हैं।[2]

प्राण के भेद :

यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मनुष्य शरीर से यह छाया उत्पन्न होती है। उसी प्राकर इस आत्मा में प्राण व्याप्त है तथा यह मनोकृत संकल्पादि से इस शरीर में आ जाता है।[3] जिस प्रकार सम्राट ही 'तुम इन ग्रामों में रहो' इस

---

1. प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड निर्ऋते निर्ऋत्या
   न पाशेभ्यो मुञ्च वातः प्राण - (अथर्व0 वे0 १९/४४)
2. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्व प्रतिष्ठितम्
   ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च (प्र0 उप0 २/६)
3. आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदातत
   मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे - (प्र0 उप0, ३/३)

प्रकार अधिकारियों को नियुक्त करता है उसी प्रकार यह मुख्य प्राण ही अन्य प्राणों को इन्द्रियों में प्रथक्-पृथक् नियुक्त करता है। [1] प्राण के पाँच भेद माने गए हैं - प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। [2]

1. प्राण - मुख और नासिका इन दोनों से निकलता हुआ सम्राट स्थानीय प्राण चक्षु और श्रोत्र में स्थित रहता है। नाक पर हाथ लगने से इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है। इसी से इसे 'नासाग्रस्थानवर्ती भी कहा जाता है, तथापि "प्राणो हृदये" में इसे हृदय में रहने वाला कहा गया है।

2. अपान - अपान पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) में विद्यमान रहकर पुरीष (मल) आदि को निकालने का कार्य करता है अर्थात् निम्न गगन वाली पायु (गुदादि) में रहने वाला अपान कहलाता है। [3]

3. समान - प्राण और अपान के स्थानों के मध्य नाभि देश में "समान" रहता है, जो खाये और पीये हुए पदार्थों को समान करने के कारण "समान" कहलाता है अर्थात् शरीर में खाये पीये हुए अन्नादि का अच्छी प्रकार से परिपाक करने वाला समान कहलाता है। [4]

4. व्यान - सब ओर गमन करने वाला सम्पूर्ण शरीर में वर्तमान रहने वाला व्यान कहलाता है। [5] अर्थात् आत्मा हृदय में विद्यमान है। इस हृदय देश में एक सौ एक नाड़ियाँ होती हैं। उनमें से एक-एक की सौ-सौ शाखाएँ होती हैं और उन में से प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ होती हैं। इन सब में "व्यान"

---

1. यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते । एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथकपृथगेव संनिधत्ते - (प्र0 उप0 ३/४)
2. प्राणापानव्यानोदानसमानाः - (वे0 सा0 श्लो0 ७७)
3. "अपानो नामावाग्गमनवान् पाऽवादिस्थावर्ती - (वे0 सा0 श्लो0 ७९)
4. "समानो नाम शरीरमध्यगताशितापीतान्नादिसमीकरण करः" - (वे सा0 श्लो0 ८२)
5. "व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती" - वे0 सा0 श्लो0 ८०)

सञ्चार करता है। व्यापक होने के कारण इसे व्यान कहते हैं।[1]

5. उदान – ऊपर की ओर चलने वाला कण्ठस्थानीय प्राण उदान कहलाता है।[2] अर्थात् इन सब नाड़ियों में से सुषुम्ना नाम की एक नाड़ी द्वारा ऊपर की ओर गमन करने वाला उदान वायु जीव को पुण्यकर्म द्वारा पुण्य लोक और पापकर्म द्वारा पापमय लोक को ले जाता है तथा पुण्य पाप दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा उसे मनुष्य लोक प्राप्त होता है।[3]

इस प्रकार प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान - ये पाँच (वायु) प्राण के भेद माने गए हैं। परन्तु कुछ लोग 'नाग, कूर्म कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय को भी प्राण के भेद के रूप में स्वीकार करते हैं।[4] उनमें (अन्य पाँच प्राणों में) वमनादि कराने वाला प्राण नाग, पलकों को खोलने बन्द करने वाला कूर्म, बुभुक्षा उत्पन्न करने वाला प्राण कृकल, जम्भाई उत्पन्न करने वाला देवदत्त और शरीर को पोषण करने वाला धनञ्जय होता है।[5]

वेदान्त मत के अनुसार इन नागादि पाँच प्राणों का इन्हीं प्राणदि पाँच प्राणों में अन्तर्भाव हो जाने से ये पाँच ही माने जाते हैं , दस नहीं[6] इसलिए प्राण के भेद पाँच ही माने जाते हैं (प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान)

प्रश्नोपनिषद् में भी प्राण के भेदों के विषय में कहा गया है कि आत्मा से प्राण

---

1. "हृदि ह्येष आत्मा अत्रेतदेकशतं नाडीना तासां
शतं शतमेकैकस्या द्वासप्रतिर्द्वासप्रतिः प्रतिशाखानाड़ी सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति"
(प्र0 उप0 ३/६)
2. "ऊदानो नाम कण्ठथानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः" (वे0 सा0 श्लो0 ८१)
3. "अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्य लोकं नयति
पपिन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्" - (प्र0 उप0 ३/७)
4. "केचितु नागकूर्मकृकलदेवदतधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदोन्त" (वे0 सा0 श्लो0 ८४)
5. "तत्र नाग उद्गिरणकरः कूर्म उन्मीलनकरः कृकलः क्षुत्करः
देवदत्तो जृम्भणकरः धनञ्जयः पोषणकरः " (वे0 सा0 श्लो0 ८५)
6. एतेषां प्राणाादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित" (वे0 सा0 श्लो0 ८६)

उत्पन्न होता है, जैसे राजा अपने अधिकारियों को "तु इन-इन ग्रामों पर अधिष्ठाता हो" ऐसा कह कर उनको नियुक्त करता है। उस तरह यह प्राण अपने ही उपप्राणों अर्थात् भेदों को रखता है। गुदा और उपस्थ में अपान, चक्षुश्रोत्र मुखनासिका में स्वयं प्राण रहता है, मध्य में समान रहता है, यह समान प्राण पाचन करता है। इससे दो नेत्र, दो कान दो नाक और एक मुख - ये सात किरणे निकलती हैं। यही प्राणाग्नि की सात ज्वालाएँ हैं। हृदय में आत्मा रहता है। हृदय से सहस्रशः नाड़ियाँ शरीर में ऊपर-नीचे चलती हैं। इनमें व्यान सञ्चार करता है। यहाँ उदान पुण्य कर्म से पुण्यलोक, पापकर्म से पापलोक और दोनों के मिश्रण से मनुष्य लोक में जन्म लेता है। उदान तेज है, यह उष्णता के रूप में शरीर में विद्यमान रहता है।

इस प्रकार ये पाँचों प्रकार के प्राण हमारे शरीर के अन्दर सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहते हुए अपने-अपने कार्य में लगे रहते हैं

प्राण का सामान्यरूप और विशेषरूप :

प्राण से दो अभिप्राय लिये जाते हैं - सामान्य (सूक्ष्म) प्राण और विशेष (स्थूल)प्राण। सामान्यरूप में इसका अर्थ होता है - केवल प्राणना। विशेषरूप में इसके भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं यथा- प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, जो कि प्राणशक्ति के विविध कार्यों के आधार पर सम्बोधित होते हैं। विशेष (स्थूल) प्राण का गुण उच्चार होता है, सूक्ष्म (सामान्य) प्राण को "वर्ण" कहते हैं।

उच्चार की प्रक्रिया प्राण धारण अथवा विशेष अभिप्राय से प्राण की विविध विधाओं पर ध्यान के स्थिर करने से सम्बन्धित होती है। विविध प्राणों पर ध्यान केन्द्रित करने से विविध आनन्द उपलब्ध होते हैं। जब मन केवल प्रमाता (अनुभवकर्ता) पर विश्रान्त होता है, तब अनुभूत होने वाले आनन्द को "निजानन्द" कहते हैं। जब मन अनुभव के सभी विषयों की अनुपस्थिति पर विचार करता है तब "निरानन्द" की

अनुभूति होत है। जब प्राण और अपान पर संयुक्त रूप से मनन किया जाता है, तब "परानन्द" की उपलब्धि होती है। जब मन समान में विश्राजित होता है, जिससे कि सभी अनुभव के विषय समन्वित (संग्रहित) हो जाते हैं, तो उस दशा को आनन्द "ब्रह्मानन्द" कहा जाता है। जब साधक का मन सभी ज्ञान और ज्ञान के विषय को आत्मा में विलीन करने के पश्चात् उदान में आराम करता है तो "महानन्द" की प्राप्ति होती है। जब मन व्यान पर हो, तो "चिदानन्द" संज्ञक आनन्द की अनुभूति होती है। इन छः प्रकार के आनन्द की अनुभूति के पश्चात् साधक प्राणशक्ति की इसके पूर्णत्व में अनुभूति करता है, तो "जगदानन्द" की अनुभूति होती है। इसमें किसी प्रकार का विभाग नहीं रहता है, क्योंकि यह सर्वत्र सर्वतः व्यापकरूप होता है, जिसमें चिति ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में अनुभूत होती है, जो पूर्ण स्वातन्त्र्य के आनन्दामृत से उल्लसित होती है, जिसमें किसी प्रकार के पूजन-चिन्तनादि की आवश्यकता नहीं रहती है।

सामान्य (सूक्ष्म प्राण) शरीर के अन्दर सदा एक अनाहत नाद होता रहता है, जो सृष्टि का बीज माना जाता है इस नाद पर चित्त का स्थिरीकरण - आणव योग की एक पृथक् विधा है इसे योग के दूसरे सम्प्रदायों में "नादानुसंधान" योग भी कहते हैं। अभिनव गुप्त के अनुसार नाद के रूप में एक वर्ण होता है, जो सभी वर्णों में व्याप्त रहता है। यह कहीं रूकता नहीं अतः यह नित्य है और अनाहत नाद कहा जाता है।[1] चूंकि यह किसी आघात से उत्पन्न नहीं होता। अतः स्वाभाविक (अकृत्रिम) और कारणरहित होता है। वर्ण प्रकल्पना का लक्ष्य अन्ततः इस अन्तः नाद पर चित्त को केन्द्रित करना होता है।

---

1. एको नादात्कमो वर्णः सर्ववर्णविभागवान।
सोऽनस्तमितरूपत्वाद अनाहत इहोदित (त0 लो0 ६/२१६)

अभिनवगुप्त कहते हैं कि जो अनाहत नाद है, कोई भी अपनी इच्छा से इसे उच्चरित नहीं करता है और न ही इसके उच्चारण को रोक सकता है। चेतन जीवों के हृदय में विद्यमान देवता ही स्वयं इसका नाद करता है। इस अवयक्त अनाहत नाद में सभी वर्ण अव्यक्त रूप से अविभक्त रूप में रहते हैं। चूँकि सभी वर्ण इस नाद से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वर्ण शब्दों से अभिहित होते हैं। इस नाद को अनुन्धान या विमर्श वर्णयोग या ध्वनियोग कहा जाता है। यह योग का बहुत प्राचीन रूप है। शंकराचार्य ने अपनी कृति योगतारावली में इस नादानुसंधान का उल्लेख किया है।

अनाहत नाद अपने आन्तरिक महत्त्व में प्रणव (ॐ) का प्रतीक है। इस प्रणव के परामर्श द्वारा योग की नव दशायें उदित होती हैं, जो नाद के सूक्ष्म रूप हैं। जिन्हें नव नाद कहते हैं। प्रथम दशा बिन्दु है जिसे 'अर्धमात्रा' कहते हैं। दूसरी अवस्था 'अर्धचन्द्र' होती है, जो पूर्व से सूक्ष्मतर होती है। (iii) रोधिनी (iv) नाद (v) नादान्त (vi) शक्ति (vii) व्यापिनी (viii) समना (ix) उन्मना अथवा उन्मनी । इस प्रकार से प्राण अपने आप को सामान्यरूप और विशेषरूप से विभक्त करता हुआ प्रत्येक शरीर को धारना करता है।

प्राणायाम विधि :

प्राणायाम शब्द प्राण में आङ् उपसर्ग पूर्वक यम् धातु से धञ प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। ''प्राणायाम'' यह शब्द ''प्राण'' एवं आयाम इन दो शब्दों से बना है, जिसका अर्थ है –श्वास–प्रश्वास का नियन्त्रण ।

श्वास के साथ प्राण का अन्दर गमन होता है और प्रश्वास के साथ बाहर आना होता है। प्रश्नोपनिषद् में वर्णित ''आयत्'' और ''परायत'' शब्दों से प्राणायाम का बोध पूरक और रेचक होता है। स्थिर (तिष्ठत्) रहने वाले प्राण से कुम्भक का बोध होता

है और ब्राह्म कुम्भक का ज्ञान (आसीन) पद से होता है।[1] इस प्रकार प्राणायाम के चार भाग-पूरक, रेचक, कुम्भक और ब्राह्म कुम्भक हैं जो अन्दर आने वाला प्राण है, उसको आयात् प्राण कहते हैं। यही पूरक प्राणायाम है। जो अन्दर से बाहर जाता है उसे परायत् प्राण कहते हैं। यही रेचक प्राणयाम होता है जो श्वास के अन्दर आने और जाने की गति का निरोध करके प्राण को अन्दर स्थिर करता है, उसे "तिष्ठत्" प्राण कहते हैं, यही कुम्भक प्राणयाम कहलाता है। जो प्राण रेचक द्वारा बाहर निकलने के पश्चात उसको बाहर ही बिठलाता है "आसीन" प्राण होता है। यह ब्राह्म कुम्भक है। प्राणायाम के चार भाग होते हैं। इन चारों के अभ्यास से प्राण वश में होता है, यही इस प्राणदेव को प्रसन्न करने का उपाय है और यही प्राणोपसाना की विधि है।

प्राणायाम का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[2] इसके विषय में वेदों से लेकर योगदर्शन तक क्रमशः बहुत-सा साहित्य उलब्ध होता है, जिनमें प्राणायाम विधि एवं प्राणायाम को अपनाने पर बल दिया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है "हे मनुष्यो सुनो ! जैसे अतिप्रशंसनीय बुद्धि वाली विद्या पुरुषार्थों से युक्त विद्वानजन वायु आदि पदार्थों से युक्त सकाश से दृढ़ निश्चल बहुत से सुखों को भोगता है, तुम भी इस प्राणायाम, विद्या को प्राप्त करके आनन्द को भोगो।"[3]

हारीत स्मृति कहती है कि प्राणायाम से वचन (वाणी) पर नियन्त्रण पाया जा सकता है।[4]

---

1. नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः (प्र0 उ0 मं0 ७)
2. प्रनू सः मर्त्तः शवंसा जनां अतितस्थौ वे ऊती मरुतो यमावत
अर्वद्भिर्वाजं भरते धना नृभिरा पृच्छयं क्रतुमा क्षति पुष्यति (ऋ0 वे0 अ0 ११, सू0 ६४, मं0 १३)
3. नूष्ठिर मरुतो वीरवन्तमृतीषाह रयिमस्यासु धत्त
सहसिणं शतिनं शूशुवास प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् (ऋ0 वे0 अ0 ११, सू0 ६४, मं0 १४)
4. प्राणायामेन् वचनम् प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्
धारणाभिवेश कृत्वा दुर्धषणं मनः । (हा0 स्मृ0 अ0 ७ श्लो0 ४)

अन्य स्मृतियों और पुराणों में लिखा है कि प्राणायाम के सेवन से वचन पर नियन्त्रण पाया जा सकता है एवं वात, पित्त, कफ आदि शारीरिक विकारों को भी दग्ध किया जा सकता है। प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञानरूपी प्रकाश पर पड़ा हुआ आवरण नष्ट हो जाता है तथा मन धारणा के योग्य हो जाता है। योगसूत्रकार ने भी चार प्रकार के प्राणायाम बताए हैं -

(1) ब्राह्मवृत्तिक (2) आभ्यन्तवृत्तिक (3) स्तम्भवृत्तिक [1] (4) वह प्राणायाम, जिसमें बाह्म एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के विषयों का अतिक्रमण कर दिया जाता है। [2] इन्हें क्रमशः रेचक, पूरक, कुम्भक और ब्राह्म कुम्भक के नाम से जाना जाता है।

शिवपुराण में प्राणायाम दो प्रकार का बताया गया है - सगर्भ और अगर्भ, [3]।

प्राणायाम सिद्धि के लिए साधक को आसनों का अभ्यासी होना अत्यन्त अनिवार्य है। यदि वह आसनों को करने में असमर्थ है, तो वह प्राणायाम नहीं कर सकता है। आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति के अवरोध हो जाने का नाम प्राणायाम हैं। बाहरी वायु का भीतर प्रवेश करना श्वास है अर्थात् पूरक प्राणायाम है और भीतर की वायु का बाहर निकलना प्रश्वास अर्थात् रेचक है। इन दोनों को रोकने का नाम प्राणायाम है। [4] श्वास और प्रश्वास को भीतर रोकाना कुम्भक है। कुम्भक के आठ भेद हैं -

1. सूर्यभेदन
2. उज्जायी
3. सीत्कारी

---

1. ब्राह्माभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः (यो0 सू0 २/५०)
2. ब्राह्माभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः (यो सू0 २/५१)
3. अगर्भश्य सगर्भश्य प्राणायामो दिधा स्मृतः (शि0 पु0)
4. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम - (यो0 द0 २/४९)

4. शीतली

5. भस्त्रिका

6. भ्रामरी

7. मूर्च्छा

8. प्लावनी

यह आठ प्रकार के कुम्भक प्राणायाम हैं।

अतः प्राणायाम के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि प्राणायाम से हर प्रकार के रोगों का उपचार किया जा सकता है। ''प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेक ज्ञान को आवृत करने वाले पाप और अज्ञान का क्षय हो जाता है [1] तथा प्राणायाम की सिद्धि से मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओं के योग्य सामर्थ्य हो जाती है।'' [2]

---

1. ततः क्षीयते प्रकाशावरणूम (यो0 द0 २/५२)
2. धारणासु च योग्यता मनसः (यो0 द0 २/५३)

अध्याय - तृतीय

तृतीय अध्याय

प्राण और रयि का स्वरूप एवं विविध रूप :

प्रत्येक मनुष्य के मन में यह स्वाभाविक रूप से विज्ञासा रहती है कि जगत की उत्पत्ति कैसे हुई ? यह प्रजा कैसे एवं कहाँ से उत्पन्न हुई ? इत्यादि शङ्काओं के समाधानरूप में प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि "परमब्रह्म प्रजापति के मन में कामना उत्पन्न हुई कि मैं अकेला हुँ यह अकेलापन बड़ा कष्टदायक होता है इसलिए मैं प्रजा उत्पन्न करूँगा । इस विचार से प्रजापति ने बड़ा तप किया। तप करने के पश्चात् उसने एक जोड़ा स्त्री-पुरूष अर्थात् प्राण और रयि को उत्पन्न किया"[1]

प्रश्नोपनिषद् में प्राण और रयि के विषय में विस्तार से कहा गया है कि "कबन्धी ऋषि ने पिप्पलाद मुनि से प्रश्न पूछा कि ये प्रजा कहाँ से उत्पन्न होती है ? माता-पिता से प्रजा उत्पन्न होती है यह तो अनाड़ी लोग भी जानते हैं प्रारम्भ में प्रजा कहाँ से उत्पन्न होती है इसका उत्तर दीजिए"[2] उससे उस पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि प्रजापति को प्रजाओं की इच्छा हुई तो उसने तप किया। उसके तप करने के पश्चात् उसने एक जोड़ा स्त्री-पुरूष अर्थात् प्राण और रयि को उत्पन्न किया और सोचा कि ये रयि और प्राण दोनों मिलकर मेरे लिए अनेक प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करेंगे इस प्रकार प्रजापति द्वार निर्मित दम्पति वर्ग से आगे प्रजाओं की उत्पत्ति प्रारम्भ हुई जो निरन्तर अबाधगति से चल रही है इसलिए सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च में युगलभाव देखने को मिलते हैं इसी से सृष्टिक्रम सम्भव है।

---

1. प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत,स तपस्तप्त्वा, स मिथुनमुत्पादयते, रयि च प्राण चेत्येतौ मे बहुधा प्रजा करिष्यति (प्र0 उप0 १/४)
2. अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ 'भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त' इति (प्र0 उप0 1/3)

आधिदेवत में देखते हैं कि सूर्य प्राण है और चन्द्रमा रयि है यहाँ जो सब है वह सब रयि ही है। जो यहाँ मूर्तिमान स्थूल है और अमूर्त सूक्ष्म है वह सब रयि है संक्षेप में समझो कि मूर्ति ही रयि है।[1]

जिस समय सूर्य उदय होकर पूर्व दिशा में प्रवेश करता है उस समय वह पूर्व दिशा के प्राणों को अपनी किरणों में मिला लेता है इसी प्रकार जब वह दक्षिण, पश्चिम, नीचे, ऊपर और अवान्तर दिशाओं को तथा हर एक वस्तु को प्रकाशित करता है उससे भी वह उन सब प्राणों को अपनी किरणों में धारण कर लेता हैं[2]

सूर्य और चन्द्रमा को परमेश्वर ने यथा पूर्व रचा है।[3] यहाँ सूर्य प्राण है और चन्द्रमा रयि है रयि का अर्थ स्त्री शक्ति होता है और चन्द्रमा को अंग्रेजी में स्त्रीलिंग निर्देश करते हैं प्राण स्वयंप्रकाशी होता है और रयि परप्रकाशी होती है चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य से लिया हुआ प्रकाश है इस सृष्टि में स्वयं प्रकाशी और परप्रकाशी ऐसे दो पदार्थ हैं जिन से सृष्टि चल रही है।

प्राण पुरूष है और रयि स्त्री है ऐसा भाव न केवल सूर्य और चन्द्रमा में ही विद्यमान है अपितु काल को भी प्रजापति का रूप माना जाता है अतएव काल में भी पुरूष और स्त्रीभाव प्राण और रयि के रूप में विद्यमान है "प्रजापति ही संवत्सर है इसके दो काल विभाग हैं उत्तरायण और दक्षिणायन उसका उत्तरायण प्राण है और दक्षिणायन रयि होता है यह उत्तरायण और दक्षिणायन का अपना वैज्ञानिक महत्त्व है प्रजा की कामना करने वालों को दक्षिण मार्ग से जाना होता है इसी प्रकार स्वर्ग

---

1. आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः, रयिर्वा एतत्
सर्वं यन्मूर्त चामूर्त च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः (प्र0 उप0 १/५)
2. अथादित्य उदयन यत प्राची दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते
यद्दक्षिणां, यत्प्रतीचीं, यदधो यदूर्ध्व यदन्तरा दिशो, यत् सर्वं प्रकाशयति तेन
सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते (प्र0 उप0 १/६)
3. सुर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् (ऋ0 वे0 १०/१९०/३)

फलभोग चाहने वालों को भी इसी दक्षिणायन का अनुसरण करना होता है जो इष्ट-पूर्त याज्ञिक-कर्म लोक कल्याण के लिए करते हैं। उनको भी दक्षिणायन मार्ग से जाना होता है और चन्द्रलोक में सुख भोगों का प्राप्त करने के पश्चात् पुनः मृत्युलोक में जन्म लेते हैं अतएव दक्षिणायन मार्ग अथवा पितृयाण मार्ग रयि मार्ग कहलाता है जो प्रमुखतया सुख-भोगों की पूर्ति करवाता है।[1]

दूसरा मार्ग उत्तरायण मार्ग है जो उत्तरायण मार्ग से जाते हैं वे तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या का अवलम्बन करके आत्मज्ञान को प्राप्त करते हैं, आत्मा का स्वरूप जानते हैं वे आदित्य को प्राप्त करते हैं यह प्राण शक्ति का स्थान है यही अमृत है, और यही अभय स्थान है इस स्थान को प्राप्त करने वाले पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते अर्थात् आवागमन के चक्कर से छूट कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं[2] इस मार्ग को देवयान मार्ग भी कहा जाता है।

मास का समय भी प्रजापति है उसका कृष्णपक्ष रयि है और शुक्लपक्ष प्राण है इसलिए ऋषि शुक्लपक्ष में यज्ञ करते हैं और शेष प्रजाजन दूसरे पक्ष में यज्ञ करते हैं।[3]

पुनः दिवस भी प्रजापति का रूप है इसमें दिन और रात्रि रूप से दो प्रकार का विभाजन है दिन प्राण है और रात्रि रयि है।[4] अन्न भी प्रजापति का स्वरूप है अन्न

---

1. संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च ।
तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते, ते चन्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते,
त एव पुनरावर्तन्ते, तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते।
एष ह वै ररिर्यः पितृयाणः (प्र० उप० १/९)
2. अथोत्तरेण, तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते,
एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते इत्येष
निरोधस्तदेष श्लोकः (प्र० उप० १/१०)
3. मासौ वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः
प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन । (प्र० उप० १/१२)
4. अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः (प्र० उप० १/१३)

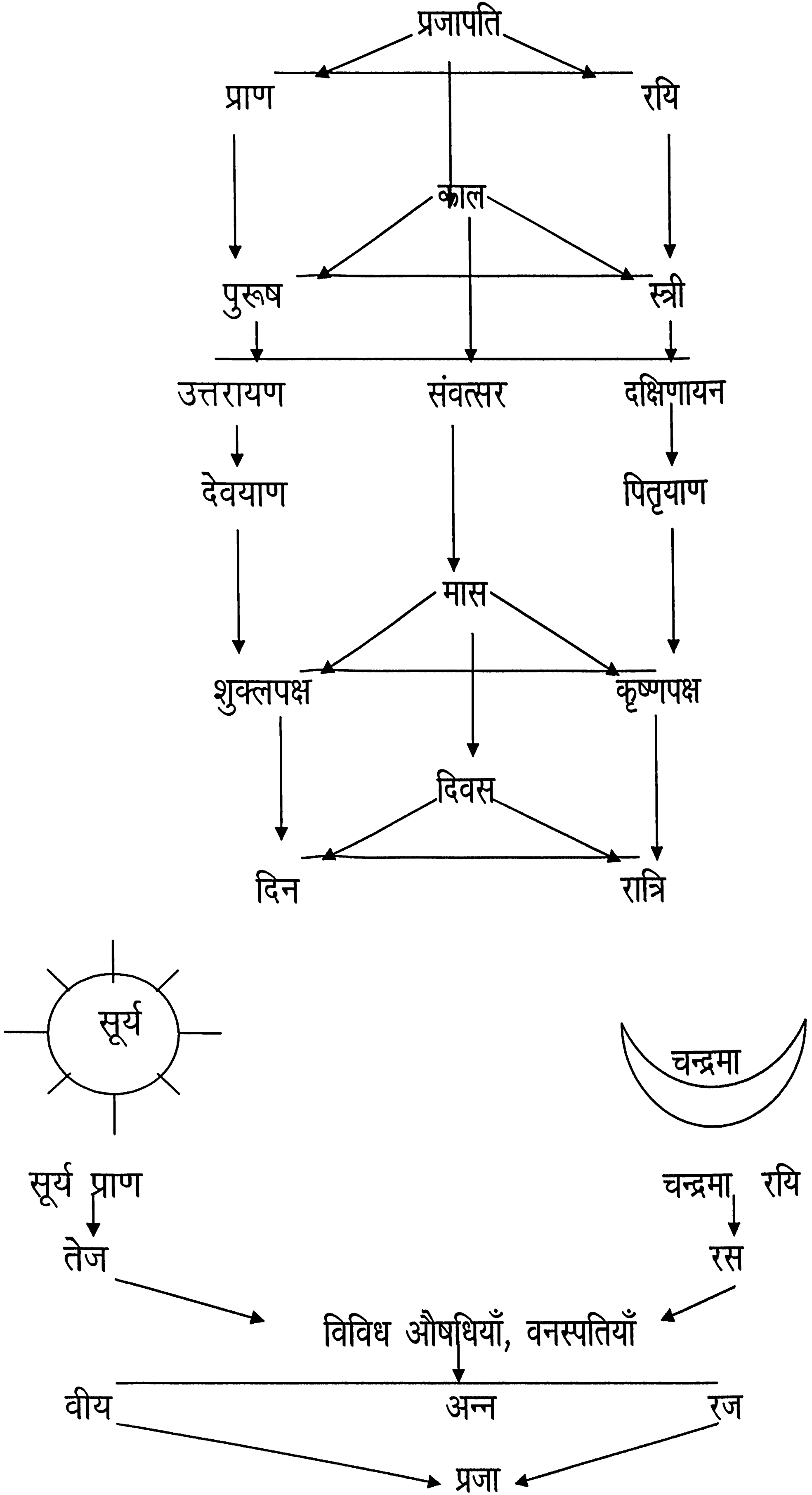
से रेतस् उत्पन्न होता है और इस रेतस् बिन्दु में स्त्री–पुरूष भाव अर्थात् रयि प्राण दोनों रहते हैं इस रेतस् से ही यह सब प्रजा उत्पन्न होती है। [1]

जो प्रजापतिव्रत का अनुष्ठान करते हैं वे रयि और प्राण का अनुष्ठान करते हैं क्योंकि प्रजापति ही रयि और प्राण दोनों रूपों में प्रकट हुआ है जैसे प्राण प्रजापति है वैसे ही रयि भी प्रजापति है ये दोनों मिल कर प्रजापति का रूप है इसलिए एक को हीन और दूसरे को उच्च समझना उचित नहीं है दोनों समान रूप से प्रजापति के रूप हैं।

---

1. अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्मादिमाः प्रजा प्रजायन्त इति (प्र० उप० १/१४)

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार प्राण और रयि के विविध रूप -



अध्याय - चतुर्थ

चतुर्थ अध्याय

प्राणी और उनके धारक तथा प्रकाशक देवता :

प्रश्नोपनिषद् में विदर्भ देशवासी भार्गव ने पिप्पलाद मुनि से प्रश्न किया कि इस संतान को - प्रजा को धारण करने वाले, इस शरीर को धारण करने वाले और इसमें प्रकाश करने वाले देव कितने हैं ? और वे कौन-कौन हैं ? और इनमें वरिष्ठ देव कौन हैं ।[1]

केनोपनिषद् में भी कहा गया है कि किसी इच्छा से या किसका भेजा हुआ अर्थात् किसकी प्रेरणा से मन अपने विषय में जाता है ? यह मुख्य श्रेष्ठ तथा प्रथम प्राण किससे युक्त होकर या किसकी प्रेरणा से चलता है ? मनुष्य जो इस वाणी को बोलता है, वह किसकी इच्छा से बोलता है ? उसका मूल प्रेरक कौन है ? और वह कौन-सा देवता है, जो आँख और कान अर्थात् हमारी इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में लगता है ?[2] मन, प्राण, वाणी, श्रोत्र या कोई भी अपने आप कार्य करने में समर्थ नहीं है किसी देवता से ही प्रेरित होकर यह सब अपना-अपना कर्म करने के लिए विवश किये जाते हैं। जो कुछ संसार में होता है, उसका कोई कर्ता अवश्य है। वह कौन है? अर्थात् वह देव कौन है ? देव, उसको कहते हैं जो दान देता है, सहायक होता है, प्रकाश करता है अथवा द्युस्थान में रहता है। 'देव' शब्द का दूसरा अर्थ ''ज्ञानी'' ''विद्वान्'' है। प्रकाश करने के साथ इस अर्थ का सम्बन्ध है - उत्साह,

---

1. अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ, 'भगवन् ! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ' इति (प्र0 उप0 २/६)
2. ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति । (केन0 उप0 मं0 १)

खेलकूद करना, जय प्राप्त करना, व्यवहार चलना, प्रकाश करना, प्रशंसित होने योग्य कार्य करना, आनन्द प्रसन्न रहना, हर्षयुक्त रहना, निद्रा अच्छी तरह आना, निद्रा पर प्रभुत्व रखना, तेजस्वी रहना, प्रिया होना, उत्साहमय जीवन रहना इत्यादि लक्षण देवत्व के हैं । इस शरीर में उत्साह और कार्यक्षमता लानेवाले शक्तिकेन्द्र कितने हैं ? शरीर को आधार देने वाले देव कितने हैं ? कर्म देव कितने हैं ? और ज्ञानदेव कितने हैं ? इनको कर्मेन्द्रिय , ज्ञानेन्द्रिय और प्राण संस्थान कहते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय में एक-एक शक्ति का केन्द्र रहता हैं उसको देव या देवता कहते हैं। ये शक्ति के केन्द्र इस शरीर में कितने हैं और इनमें सबसे वरिष्ठ सबको शक्ति देने वाला देव कौन सा है ?

प्राण और रयि अर्थात् स्त्री और पुरूष से प्रजा उत्पन्न हुई अर्थात् संतान उत्पन्न होती है। अब प्रश्न यह है कि कितने देव इस शरीर को धारण करते हैं और इनमें सबका संचालक अधिष्टाता देव कौन है ? इन सब प्रश्नों के उत्तर में पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि 'आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी' - ये पाँच देव विश्व में बृहदाकार हैं। और उनके अंश इस प्रजा के शरीर में भी हैं। मन श्रोत्र, चक्षु वाणी (रसना और नासिका) ये देव हैं, जो इस शरीर को धारण करते हैं और अपनी-अपनी शक्तियों से यहाँ प्रकाश करते हैं और अहंकार से कहते हैं कि हम ही इसको धारण करते हैं - ये देव ऐसे हैं [1]

विश्व में देवता	देह में ज्ञानेंद्रिय
(विद्युत) चन्द्रमा	मन
वायु	कान, श्रोत्र

---

1. तस्मै स होवाय आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रकाश्याभिवदन्ति, वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः (प्र० उप० २/२)

वायु	(त्वचा)
अग्नि (तेज)	चक्षु, वाचा
जल	(रसना जिव्हा)
पृथिवी	(नासिका)

इस तालिका से पता लग सकता है कि किस विश्वव्यापक देवता से कौन-सा शरीर का इन्द्रिय बना है। इसके अतिरिक्त आकाशादि पञ्चतत्त्व शरीर में आकाश, वायु, प्राण, उष्णता, रक्त (जल) और सख्त हड्डी आदि के रूप भी शरीर में विद्यमान है। इस तरह यह शरीर विश्व शरीर का अंश है। इनके सूक्ष्म-तन्मात्रा के अंशों से ज्ञानेन्द्रिय और कामेन्द्रिय है वाणी अग्नि से बनी है ।

ये सब इन्द्रियाँ अपने-अपने सामर्थ्य की महत्ता वर्णन करती हैं और हम इस शरीर को व्यक्तिश और संघाराधारण कर रहे हैं, ऐसा कहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि वे कौन है जो इन सब इन्द्रियों को अपने-अपने कार्य में लगाए रखता है ? वह है "परब्रह्म परमात्मा" जिसने सम्पूर्ण संसार को रचा है। इस संसार में रहने वाली प्राणियों को रचा है। इन प्राणियों के शरीरों को रचा है। शरीर में कार्य करने वाली इन्द्रियों को रचा है। परमात्मा कानों का भी कान है, अर्थात् जिसके बिना विज्ञानात्मा जीव सुन भी नहीं सकता, जो मन का भी मन है अर्थात् जिसके बिना मन भी अपना काम नहीं कर सकता, अवश्य ही वह परब्रह्म परमात्मा वाणी की भी वाणी है वही निश्चय से प्राणों का प्राण है और आंखों की आँख है। धैर्यवान् पुरूष अर्थात् जो पुरूष कभी धीरज को नहीं छोड़ते, वे संसार के उपयुक्त श्रोत्रादि विषयों का ममत्व छोड़ देते हैं। इस बात का अभिमान कभी नहीं करते कि मैं सुनता हुं, मैं सोचता हुं इत्यादि अर्थात् इन भावनाओं को त्याग देते हैं वे इस संसार

से जाने के बाद अर्थात् मरने पर अमर हो जाते हैं।[1]

हमारे शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय उस परब्रह्म परमात्मा की कृपा से ही अपने-अपने कार्य में लगी रहती है "परन्तु उस परब्रह्म परमात्मा तक आंख नहीं जाती, वह आँख का विषय नहीं है। उसको आँख नहीं देख सकती। वाणी की भी गति वहाँ तक नहीं है। मन भी उसको नहीं सोच सकता, मन से भी वह परे है न तो हम उसको जानते हैं और न तो पढ़ लिख कर और न सोच विचार करके जान सकते हैं। इसलिये ऋषि कहते हैं उसका उपदेश हम अपने शिष्य को कैसे दें, क्योंकि जितना कुछ हम उसके बारे में जानते हैं वह उससे परे है जिसको कोई नहीं जानता है वह सबके परे है जिन महात्माओं ने इस परब्रह्म परमात्मा के सम्बन्ध में हम लोगों को विशेष रूप से समझाया है उन पूर्व पुरूषों से हमने ऐसा ही सुना है।[2] अंत में हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता वही परब्रह्म परमात्मा है जिसकी इच्छा से प्राणी प्राण और रयि द्वारा अर्थात् स्त्री पुरूष द्वारा संसार में आता है उसी की इच्छा से शरीर तथा उसकी इन्द्रिय अपने-अपने कार्य में लीन हो जाती है अर्थात् उन इन्द्रिय को प्रकाशित करने वाला देव वह परब्रह्म परमात्मा है जिसका पार कोई नहीं पा सका वह सबसे परे है सबसे ऊपर है वही परब्रह्म परमात्मा सबको प्रकाशित करने वाला देव है।

प्राण की सर्वश्रेष्ठता :

प्राण को सब शक्तियों में सबसे श्रेष्ठ शक्ति कहा गया है। सब अन्य शक्तियाँ प्राण पर ही अवलंबित रहती हैं जब तक प्राण रहता है, तब तक अन्य शक्तियाँ

---

1. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वायं स उ प्राणस्य
प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति (केन0 उप0 म0 २)
2. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विधो न विजानमो चथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याच चक्षिरे (केन0 उप0 म0 ३)

रहती हैं। जब प्राण जाने लगता है तो अन्य शक्तियाँ प्रथम चली जाती हैं। न केवल प्राणियों का ही प्राण आधार है अपितु औषधि, वनस्पति तथा अन्य सभी प्रकार के स्थावर जङ्गम, पदार्थों का भी प्राणशक्ति ही आधार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्यापक है और सबके अन्दर रहती हुई सबका धारण पोषण करती है।

प्राण की सर्वश्रेष्ठता के विषय में तैतिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि ''प्राण ही ब्रह्म है'' क्योंकि प्राण से सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राण से जीवित रहते हैं और अन्त में प्राण में जाकर मिल जाते हैं। [1]

प्राण के विषय में छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है ''प्राण ही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है। सब अन्य देव इसके आधार से रहते हैं [2] तथा प्राण ही बल है [3] प्राण ही अमृत है [4] प्राण ही सत्य है [5] प्राण ही यश और बल है [6] प्रश्नोपनिषद् में भी प्राण की सर्वश्रेष्ठता के विषय में कहा गया है कि शरीर में जब सब इन्द्रियाँ एक दूसरे का विरोध करने लगी कि मैं सब से श्रेष्ठ हुं तब सब इन्द्रियों का कलह प्राण ने सुना और प्राण ने उनसे कहा कि इस तरह मोह से घमण्ड न करो । आप में से एक में भी इस शरीर को धारण करने की शक्ति नहीं है । मैं ही अपने आप को पाँच विभागों में विभक्त करके और अपने पाँचों विभागों को पाँच स्थानां में रखकर इस शरीर को धारण करता हुं। इस कारण तुम सब में मैं श्रेष्ठ

---

1. प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राण प्रयन्त्यभि सं विशन्तीति । (तै0 उप0 ३/३)
2. प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । (छां0 उप0 ५/१/१, बृ0 ६/१/१)
3. प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् ।। (बृ0 उप0 ५/१४/४)
4. प्राणो वा अमृतम् ।। (बृ0 उप0 १/६/३)
5. प्राणो वै सत्यम् ।। (बृ0 उप0 २/१/२०)
6. प्राणो वै यशो बलम् ।। (बृ0 उप0 १/२/६)

और वरिष्ठ हुँ।[1]

पर प्राण के इस कथन पर किसी ने विश्वास नहीं किया और वे घमण्ड करती हुई गर्व करने लगीं। प्राण को कोई सुनने को तैयार नहीं था। यह देख कर प्राण अपने आप को शरीर से पृथक् करने लगा अर्थात् ऊपर उठने लगा। जब वह ऊपर उठने लगा, तो सब इन्द्रियाँ उसके साथ ही अपने स्थानों को छोड़कर ऊपर उठने लगी। उस समय सब से प्राण से कहा "कृपा करके ऐसे न उठो यही स्थिर हो जाओ। यह सुनते ही प्राण वहीं शरीर में बैठने लगा, तब सब इन्द्रियाँ उसके साथ वहीं शरीर में यथा स्थान स्थिर होने लगीं।[2] जिस तरह मधुमक्खियों का राजा ऊपर उठने लगता है तब उसके साथ अन्य मधुमक्खियाँ ऊपर उठती हैं, और जब वह नीचे बैठने लगता है, तब अन्य मधुमक्ख्याँ भी उसके साथ नीचे बैठती हैं। ठीक वैसा ही यहाँ हुआ। जब सब इन्द्रियों ने अपनी परवशता इस प्रकार देखी तब उनको विदित हुआ कि प्राण ही मुख्य है और प्राण ही इस शरीर को धारण करता है। इस तरह सब का निश्चय होने पर वे सभी इन्द्रियाँ प्राण की प्रशंसा एकमत से करने लगीं और प्राण को सबसे श्रेष्ठ कहने लगीं।

जिस प्रकार रथनाभी में आरे लगे रहते हैं वैसे सब विश्व प्राण में आश्रित हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यज्ञ, शौर्य तथा ज्ञान अथवा क्षत्रिय और ब्राह्मण ये सब प्राण के ही आश्रय से हैं। क्योंकि यदि प्राण नहीं रहा, तो क्षत्रिय की वीरता और ब्राह्मण का ज्ञान कहाँ दिखाई देगा ? प्राण न रहा, तो वेदों का अध्ययन कौन करेगा ?

---

1. तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथ । अहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्धाणमष्टभ्य विधारयमि इति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः । (प्र0 उप0 २/३)
2. सोऽभीमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव, तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्त्रामन्ते, तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्त, एवं वाङ्मनश्चक्षुः क्षोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति । (प्र0 उप0 २/४)

इसलिए यह सब प्राण के आश्रय से ही हैं, यह सत्य है।[1] प्राण की सर्वश्रेष्ठता के विषय में ''छान्दोग्योपनिषद्'' में भी वर्णन आता है कि एक बार मनुष्य की इन्द्रियों ने यह निर्णय करने का निश्चय किया कि हम में से कौन श्रेष्ठ है। इसके लिए वे सृष्टिकर्ता प्रजापति के पास गई। प्रजापति ने कहा कि वही इन्द्रिय सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है जिसके बिना शरीर अशक्त और दयनीय दशा में रह जाता है। इस पर इन्द्रियों ने श्रेष्ठता के निर्णय के लिए एक प्रतियोगिता का निश्चय किया।[2] वाणी सबसे पहले शरीर के बाहर निकल गई और एक वर्ष के बाद लौट कर देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि शरीर उसके बिना किस प्रकार जीवित रह सकता है। उससे यह कहा गया कि शरीर उसके बिना एक मूक पुरूष की भाँति रहा। यद्यपि वह बोल नहीं सकता था, किन्तु प्राण से श्वास ले सकता था। आँख से देख सकता था, कान से सुन सकता था, मन से विचार कर सकता था, इस पर वाणी ने पुनः शरीर में निवास किया।[3]

इसके बाद नयनेन्द्रिय ने शरीर छोड़ा और एक वर्ष बाहर रहने के बाद लौटकर देखा तो बड़ा विस्मय हुआ कि शरीर उसके बिना कैसे जीवित रह सका। उससे यह कहा गया कि शरीर एक अन्धे की भाँति रहा, यद्यपि वह देख नहीं सकता था, किन्तु प्राण से श्वास ले सकता था, मुख से बोल सकता था, कान से सुन सकता था। मन

---

1. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्व प्रतिष्ठितम्
ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं च ब्रह्म च । (प्र0 उप0 २/६)
2. अथ ह प्राण अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽह श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति।
ते ह प्राणः प्रजापति पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच
यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पाष्ठितरमिव हश्येत स वः श्रेष्ठ इति (छा0 उप0 ५/१/६-७)
3. सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच
कथमशकर्ते मज्जीवितुमिति यथा कल अवदन्तः, प्राणन्तः प्राणेन,
पश्यंतच्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् (छां0 उप0 ५/१/८)

से विचार कर सकता था इस पर आँख ने पुनः शरीर में प्रवेश किया।[1]

उसके बाद श्रवणेन्द्रिय ने शरीर छोड़ा और एक वर्ष बाद लौटकर देखा, तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि शरीर उसके बिना कैसे जीवित रह सका। उससे कहा गया कि उसके बिना शरीर एक बधिर पुरूष की भाँति रहा। यद्यपि वह सुन नहीं सकता था, किन्तु प्राण से श्वास ले सकता था, मुख से बोल सकता था, आँख से देख सकता था, मन से विचार कर सकता था, इस पर श्रवणेन्द्रिय ने पुनः शरीर में प्रवेश किया।[2] उसके बाद मन ने शरीर को छोड़ा और एक वर्ष बाहर रहने के बाद लौटकर देखा, तो उसे भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि शरीर उस के बिना कैसे जीवित रह सकता है। उससे कहा गया कि उसके जाने के बाद शरीर एक अबोध शिशु की भाँति रहा। यद्यपि वह विचार नहीं कर सकता था, परन्तु प्राण से श्वास ले सकता था, मुख से बोल सकता था, आँख से देख सकता था, कान से सुन सकता था, इस पर मन ने पुनः स्थान ग्रहण किया।[3]

अन्त में जब प्राण शरीर को छोड़ने लगा तब उसने इन्द्रियों को उसी प्रकार उखाड़ लिया, जिस प्रकार एक सुवंशीय घोड़ा अपनी खूंटियों को उखाड़ लेता है, जिनसे वह बंधा होता है। तब समस्त इन्द्रियों ने एकत्र होकर प्राण से कहा कि आप हमारे स्वामी हैं। आप हमें न छोड़िए।[4] वाणी ने कहा कि यदि मैं श्रीमति हुँ, तो

---

1. चक्षुर्होच्चक्राम तत्वत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाचू कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथांधा अपश्यन्तः, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, शृण्वन्तः श्रोत्ररेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः (छा० उप० ५/१/९)

2. श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जवितुमिति यथा बधिर अशृण्वन्तः प्राणंतः प्राणेन वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् (छा० उप० ५/१०)

3. मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं - - - -
- - - - - - - प्रविवेश स ह मनः (छां० उप० ५/१/११)

4. अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा - - - - -
- - - - - - - त्वे नः श्रेष्ठऽसि मोक्रमीरिति (छा० उप० ५/१/१२)

आप ही श्रीमान् हैं, नयनेन्द्रिय ने कहा कि यदि मैं प्रतिष्ठा हुँ तो आप ही प्रतिष्ठावान् हैं [1] कर्णेन्द्रिय ने कहा कि यदि मैं सम्पत्ति हुँ तो आप ही सम्पत्तिवान् हैं, मन ने कहा कि यदि मैं चरम अधिष्ठान हुँ तो वस्तुतः आप ही चरम अधिष्ठान हैं। [2] यही कारण है कि वाणी, नयन, कान, मन आदि इन्द्रियों की नहीं, वरन् प्राण की श्रेष्ठता मानी जाती है। वस्तुतः प्राण ही समस्त इन्द्रियों का आधार है। [3]

अतः स्पष्ट हो जाता है कि प्राण सब शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। अन्य शक्तियाँ प्राण के अधीन हैं। जब प्राण सोता है, तब वाक्, चक्षु, मन आदि सब प्राण में ही लीन होती हैं, क्योंकि प्राण ही इनका संवारक हैं। [4]

प्राण की संज्ञा सूर्य के साथ की जाती है, क्योंकि जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर अंधेरा हो जाता है और कुछ नजर नहीं आता, उसी प्रकार प्राण के अस्त होने पर शरीर अस्त अर्थात् बेकार हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राण ही सब से श्रेष्ठ है, वही ब्रह्म है।

<u>प्राण की सर्वात्मरूपता</u> :

परमात्मा की चर एवं अचर सृष्टि में जो क्रियात्मिका शक्ति अथवा जो गत्यात्मिका शक्ति है, उसको प्राणशक्ति कहते हैं। प्राणशक्ति के कारण ही मानव पशु-पक्षी, कीट-पतंग और वृक्ष लता-गुल्म एवं पर्वत आदि के अवयवों में उपचय तथा अपचय की वृद्धि और ह्रास होते हैं। प्राण शक्ति के कारण ही मनुष्य, पशु वक्ष एवं पाषाण के अवयव या अंग विकसित होते हैं। जब इनमें प्राणशक्ति नहीं रह जाती, तब

---

1. अथ हैनं वागुवाच यदहं ------- तत्प्रतिष्ठासीति (छां0 उप0 ५/१/१३)
2. अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं ------ तदायतनसीति (छां0 उप0 ५/१/१४)
3. न वै वाचो न चक्षूंषि -----
   ------- सर्वाणि भवति (छा0 उप0 ५/१/१५)
4. प्राणों वाव संवर्गः --------
   प्राणं चक्षु ------- सर्वान् संवृक्ते (छा0 उप0 ४/३/३)

ये सूखने या सड़ने लगते हैं। चर जगत् अर्थात् मनुष्य तथा पशु आदि में तो प्राणवियोग के लक्षण सद्यः प्रतीत होने लगते हैं, परन्तु वृक्ष आदि में कुछ विलम्ब से, पाषाण आदि में तो बहुत विलम्ब से प्रतीत होते हैं। भारत में लोग विन्ध्यपर्वत को मृत पर्वत अर्थात् प्राणहीन पर्वत कहते हैं और हिमालय को संजीव या सप्राण कहते हैं। कहा जाता है कि हिमालय आज भी बढ़ रहा है। मनुष्य, पशु आदि के शरीर में जो रक्तसंचार है, वह प्राणशक्ति की ही क्रिया है। वृक्षों में जो रस का संचार हो रहा है, वह भी प्राणक्रिया से ही हो रहा है। जीव की सत्ता तो सर्वत्र है। इसलिए जीव व्यापक है, पर प्राण के संयोग एव वियोग से ही शरीर में जीव की सत्ता और असत्ता का अनुमान करते हैं। प्राण के इस क्रियारूप और शक्तिरूप को देखकर भगवत्पाद "श्रीशंकराचार्य जी ने ब्रह्म सूत्र के प्राणधिकरण सूत्र में कहा है कि ब्रह्म से ही प्राण है अर्थात् प्राण ब्रह्मरूप एवं सर्वात्मक है।[1] इस प्रकार प्राण समस्त सत्ता का मूल माना गया है। समस्त संसार में जितने भी पदार्थ हैं सब का मूल प्राण ही है अर्थात् सभी में प्राण है, चाहे वह जड़ है या चेतन सभी में प्राण होता है।

कौषीतकी ऋषि बतलाते हैं कि प्राण चरण सत्य है। मन इसका दूत है, नेत्र अंग रक्षक हैं, कर्ण सूचक है और वाणी परिचारिका है। इस चरम सत्य को समस्त पदार्थ आहुति प्रदान करते हैं, यद्यपि प्राण उनकी कभी याचना नहीं करता।[2] वे प्राण से याचना करते हैं "हे प्राण ! आप हमारे साथ ही रहें, हम से पृथक् मत हों" क्योंकि प्राण के पृथक हो जाने पर शरीर निर्जीव हो जाता है। अथर्ववेद में कहा गया है "हे प्राण तू जगदाधार है, तुझे हमारा नमस्कार है। तू ही लोक लोकान्तरो का

---

1. "अत एव प्राणः" - (ब्र0 सू० शां0 भा0 १/१/२३)
2. प्राणो ब्रह्मेति स्माह कौषीतकि : तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो------
------ अयाचमानाय बलि हरन्ति (कौ0 ११/१)

प्रकाशक है। तू ही समस्त सृष्टि का आधार है।[1]

प्राण को समस्त सृष्टि का जीवनदाता माना गया है। समस्त आकाश में वायुरूपेण व्यापक है। भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल प्राण में ही स्थित हैं।[2]

प्राण के अधीन यह सब जगत् है। प्राण ही ईश्वर है। इसी में सब कुछ हो रहा है। प्राणविद्या में कहा गया है कि प्राण ही मृत्यु है और प्राण ही जीवन की शक्ति है। इसलिए सब देवता भी प्राण की उपासना करते हैं। क्योंकि प्राण ही सब का पोषण करता है।[3] अगर प्राण की उत्पत्ति न होती, तो सृष्टि की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती थी, क्योंकि प्राण के द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। प्राण से प्रेरणा पाकर ही जीव गर्भ में आता है और इसी की प्रेरणा से जीव बाहर अर्थात् उत्पन्न होता है और जीवित रहता है और अन्त में उसी में विलीन हो जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान काल में जो है, वह सब प्राण ही है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राण सर्वत्र है। सर्वव्यापक है। प्राण है, तो समस्त सृष्टि है, प्राण के न होने पर प्रलय हो जाती है और सारी सृष्टि नष्ट हो जाती है।

इसलिए भार्गव वैदर्भि ऋषि प्राण से प्रार्थना करते हैं कि हे प्राण! मुझसे पृथक् न होओ अर्थात् मुझ से दूर न जाओ। हे प्राण ! जीवन के लिए मेरे अन्दर रहो । मुझ से पृथक् न होओ।[4]

---

1. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे
   यो भूतः सर्वेश्वरो यस्मिन् सर्व प्रतिष्ठिम् (अर्थव0 वे0 ११/४/१)
2. प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातोह -----
   ---- प्राणे सर्व प्रतिष्ठितम (अथर्व0 वे ११/४/१५)
3. प्राणो मृत्युः प्राणस्त्क्मा --------
   ----- लोक आ देधत् (प्रा0 वि0 मं0 ११)
4. प्राण मा मत्पर्यावतो -- - - - - - -
   - - - - - - - बघ्नामिंत्वा मयि (प्रा0 वि0 मं0 २६)

जो प्राण को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करते हैं वह अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

प्राण की ब्रह्मरूपता :

उपनिषदों में प्राण को ब्रह्मरूप कहा गया है, क्योंकि तैतिरीयोपनिषद् अनुसार प्राण ही ब्रह्म है। प्राण से सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राण से जीवित रहते हैं और प्राण में ही जाकर मिल जाते हैं। [1]

केनोपनिषद् में कहा गया है किससे युक्त होकर प्राण चलता है अर्थात् प्राण की प्रेरक शक्ति कौन-सी है। [2] इसके उत्तर में उपनिषद् कहता है कि यह ब्रह्म प्राण का प्राण है अर्थात् प्राण का प्रेरक ब्रह्म है [3] प्राण की ब्रह्मरूपता के विषय में कहा जाता है कि जिसका जीवन प्राण से नहीं होता, परन्तु जिससे प्राण का जीवन होता है, वह ब्रह्म है [4] ब्रह्म की शक्ति से प्राण अपना सारा कार्य करता है, इसलिए प्राण शक्ति ब्रह्म ही है।

ईशोवास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो यह (असौ) असु अर्थात् प्राण के अन्दर रहने वाला पुरुष है, वह मैं अर्थात् ब्रह्म हूँ। मेरे चारों ओर प्राण विद्यमान हैं और मैं उसका प्रेरक हूँ। मेरी प्रेरणा से प्राण चलात है। [5] प्राण को ही ब्रह्म कहना उचित है।

कहा जाता है कि जो पुरुष ब्रह्मज्ञानी बनता है अर्थात् जो प्राण को अर्थात् ब्रह्म

---

1. प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् ----------
   ---------- प्राण प्रयन्तयसि सं विशान्तीति (तै० उप० ३/३)
2. केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्त (केन०. उप० १/१)
3. स उ प्राणस्य प्राणः (केन० उप० १/२)
4. यत्प्राणेन न प्राणिति ----------
   --------- नेदं यदिदमुपासते (केन० उप० १/८)
5. योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।। (ईश० उप० मं० १६)

का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह अकाल मृत्यु नहीं मरता, प्रत्युत पूर्ण आयु की समाप्ति के पश्चात् स्वकीय इच्छा से वह मरता है। आयु की समाप्ति तक उस के संपूर्ण इंद्रिय, अवयव और अंग बलवान् और कार्यक्षम रहते हैं। यह सब फल मिलता है, जब प्राण अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है।

ब्रह्म की नगरी हृदय में है और उसमें अमृत है। यह अमृत देव प्राशन करते हैं और पुष्ट होते हैं अर्थात् हृदयस्थानीय रूधिर ही सब इन्द्रियों में जाकर आरोग्य स्थिर रखता है। जो व्यक्ति इस धरती पर रहते हुए प्राण को वश में कर लेता है वह व्यक्ति जीवित रहते हुए ही अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

माण्डूक्य उपनिषद् में प्राण के सम्बन्ध में कहा गया है कि जितने भी पदार्थ विद्यमान हैं, उन सबकी उत्पत्ति प्राण से ही होती है। बीजात्मरूप से प्राण ही सबकी उत्पत्ति करता है। समस्त पदार्थ अपनी उत्पत्ति से पूर्व प्राणात्मक बीजरूप से सत् ही थे [1] इसी को श्रुति भी कहती है कि यह प्राण ब्रह्म ही है। [2]

केनोपिनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है। शिष्य गुरु से प्रश्न करता है कि किस के द्वारा मन स्फूर्ति पाकर विषयों की ओर प्रेरित होता है ? किसके द्वारा यह प्राण प्रथम ही संचलित होता है ? किसके द्वारा वाणी क्रियाशील होकर बोलने लगती है ? और ऐसा कौन है, जो नेत्रों और कानों को सुनने की शक्ति देता है ? [3] गुरु उत्तर देते हुए कहते हैं कि पुत्र जो मन का भी मन है, जो प्राण का भी प्राण है, श्रोत्रों का भी श्रोत्र है, चक्षुओं का भी चक्षु है अर्थात् शक्ति है वही परमात्मा

---

1. प्रभवः सर्वभावनां सतामिति विनिश्चयः ।
   सर्व जनयति प्राणश्चेतोशून्पुरुषः पृथ्क (मा0 उप0 १/६)
2. ब्रह्मैवेदम् सर्वम् (श्रुति)
3. ॐ केनोषितं पतति प्रेषति मनः ------
   ------ श्रोत्रं क उदेवो युनक्ति (को0 उप0 १/१)

परब्रह्म है [1] इसी प्रकार अनेकत्र श्रुतियों में कहा गया है कि प्राण ही ब्रह्म है वही सबका प्रेरक है इसी की सभी उपासना करते हैं प्राण ही सूर्य है चन्द्रमा है और वही प्रजापति है इसी प्राण शक्ति द्वारा आश्रय पाकर सम्पूर्ण स्थावर तथा जंगम जीवित रहते हैं और प्रलय के समय प्राणशक्ति का आश्रय न पाकर नष्ट हो जाते हैं।

देवता, मनुष्य तथा पशु आदि प्राण के सहारे ही श्वास लेते हैं। इसलिए प्राण ही सभी जन्तुओं की आयु है। यही कारण है कि प्राण को सर्वायुष कहा जाता है। शरीररूपी पुरी में निवास करने से तथा उसका स्वामी होने के कारण प्राण ही पुरूष कहा जाता है। जब तक शरीर में प्राण है, तभी तक जीवन है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि इसी से सभी उत्पन्न होते हैं। इसी से जीवित रहते हैं, और अंत में इसी में विलीन हो जाते हैं।

---

1. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो ----------
------ प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति (केन0 उप0 १/२)

अध्याय - पंचम

पञ्चम अध्याय

प्राण की उत्पत्ति :

प्राण को सब शक्तियों में सबसे श्रेष्ठ शक्ति कहा गया है। प्राण से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राण में ही जीवित रहते हैं और अन्त में प्राण में ही मिल जाते हैं अब प्रश्न यह है कि सब की उत्पत्ति करने वाले प्राण की उत्पत्ति कैसे होती है इसके विषय में प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि "अश्वलक के पुत्र कौसल्य ने पिप्पलाद ऋषि से पूछा कि – हे भगवन् यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है ? इस शरीर में किस प्रकार आता है ?" [1]

उससे पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि उसने बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न को पूछा है अतः वह बड़ा ब्रह्मनिष्ठ है इसलिए उसके प्रश्न का उत्तर देता हुँ [2] आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है जैसे मनुष्य शरीर की छाया होती है इसी तरह आत्मा के साथ छायावत् प्राण का सम्बन्ध है मन के संकल्प के कारण यह शरीर में आत्मा के साथ आता है [3] आत्मा हृदय में रहता है प्राण आत्मा में रहता है अर्थात् प्राण से आत्मा की उत्पत्ति होती है। इस प्राण की उत्पत्ति के विषय में शास्त्रों में अनेक प्रकार मिलते हैं । वेदान्तपरिभाषा में लिखा है कि परमात्मा के ईक्षण से पञ्चमहाभूतों से प्राण की उत्पत्ति होती है। [4] यही बात विद्यारण्य स्वामी द्वारा पञ्चदशी ग्रन्थ में भी कही गई है। [5]

---

1. अथ हैनं कौसल्यश्वालायनः पप्रच्छ 'भगवन ! कृत एष प्राणो जायते ? कथमायात्यस्मिन् शरीरे ? (प्र० उप० ३/१)
2. तस्मै स होवाच अतिप्रश्नान् पृच्छसि, ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि (प्र० उप० ३/२)
3. आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततम्। मनोकृतेनायात्यस्मिन शरीरें। (प्र० उप० ३/३)
4. रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैरव मिलितैः पञ्च वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्या जायन्ते (वै० प० वि० परि०)
5. तैः सवैः सहितैः प्राणो – – – – – – – – – – – – – – समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः (प० त० विवेक १/२२)

बृहदारण्यकोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद और प्रश्नोपनिषद् में तो साक्षात् परमात्मा से प्राण की उत्पत्ति मानी गई है। उनके अनुसार "परमात्मा अर्थात् आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है और प्राण से सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं।" [1]

आत्मा के विषय में कहा जाता है कि आत्मा अजर है, अमर है, उसे कोई नहीं मार सकता उसी प्रकार प्राण भी अजर है, अमर है, क्योंकि प्राण कभी नष्ट नहीं होता। शरीर नष्ट हो जाता है। जब एक शरीर नष्ट हो जाता है, तो प्राण दूसरे शरीर में प्रवेश पा लेता है। इसी प्रकार प्राण नष्ट नहीं होता। प्राण को ब्रह्म कहा गया है और ब्रह्म कभी नष्ट नहीं होता है।

यह सत्य है कि प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है, किन्तु प्राण के बिना शरीर में अकेला आत्मा कुछ नहीं कर सकता। अतः शरीर में प्राण की ही प्रधानता मानी जाती है। क्योंकि भूख, प्यास जैसी शारीरिक क्रियायें भी तो प्राण के कारण ही उत्पन्न होती हैं। रक्त संचार मल-मूत्र परित्याग तथा रज-वीर्य में गति प्राण से ही प्रसारित होती है। शरीर में बल, शक्ति और पराक्रम प्राण से ही बना रहता है। भार को उठाते अथवा कोई कार्य करते समय प्राण को भीतर रोकने से बल उत्पन्न होता है। यदि प्राण समान भाव से विकाररहित कार्य करता रहे, तो शरीर सर्वथा स्वस्थ बना रहता है। प्राण के मन्द अथवा तीव्र होने से रक्तचाप बढ़ जाता है या घट जाता है, जिसे "हाई ब्लडप्रेशर या लो ब्लड प्रेशर" कहा जाता है। प्राण के विकृत हो जाने पर मनुष्य को अनेक प्रकार के रोग घेर लेते हैं। हृदय और छाती के रोगों के कारण में भी प्राण सम्बन्धी विषमता ही होती है। प्राण पर वश होने से इन्द्रियों और मन पर भी वशत्व हो जाता है। आत्मा के साथ तीन प्रकार के प्राणों का सम्बन्ध रहता है।

---

1. अस्मादात्मनः सर्वे प्राणा - - - - -
   सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (बृहद्0 उप0 २०/१/२०)

स्थूल शरीर में स्थूल प्राण रहता है, जो वायु का ही कार्य विशेष है और यही स्थूल शरीर का आधार होता है। दूसरा सूक्ष्म प्राण है, जो सूक्ष्म वायु का परिणाम है और यही सूक्ष्म शरीर के जीवन का आधार रहता है। तीसरा प्राण कारण शरीर में रहता है। यह कारण शरीर के जीवन को सुरक्षित रखता है। स्थूल प्राण की अवधि पर्यन्त ही स्थूल शरीर जीवित रहता है और सूक्ष्म प्राण की अवधि तक सूदम शरीर जीवित रहता है। यह कई अरबों वर्षों तक बना रहता है।

अंत में यही कहा जा सकता है कि प्राण ही सर्वप्रथम जीवन का संचार करता है प्राण रूपी जीवनशक्ति से ही मनुष्य के भोग प्रारम्भ होते हैं और अपवर्ग तक चलते हैं प्रलयकाल या मोक्ष के समय ही इनकी समाप्ति होती है।

<u>प्राण का शरीर में प्रवेश और नानारूपों में विभाजन</u> –

पञ्चभूतों में वायु महाभूत शरीर की रचना में सहकारी उपादान कारण है। इसका प्रधान गुण या धर्म प्राणिमात्र को गतिशील बनाना है। इसे स्पष्ट होता है कि शरीर में वायु प्राण के रूप में प्रविष्ट होकर सर्वक्रिया कर्म या गति का हेतु बना हुआ है। प्राण का मूल अर्थ "श्वास" है। श्वास को मनुष्य के जीवन का सर्वस्व समझा जाता है। वायु महाभूत का अन्तिम परिणाम मानव शरीर में आकर समाप्त होता है। प्राण जीवन का मूल आधार है और शरीर में इसके रहते ही भोग और अपवर्ग का सम्पादन सम्भव होता है।

प्राण शरीर में दस रूपों में विभक्त होता है। प्रश्न हो सकता है कि प्राण सर्वप्रथम शरीर के किस भाग में प्रवेश करता है ? और इसकी क्रिया शरीर के किस भाग से प्रारम्भ होती है ? स्मर्तव्य यह है कि वास्तव में वायु परिणत होकर प्राण के रूप में आया है। प्राण तो वास्तव में एक ही है। शरीर में स्थानभेद से और कार्यभेद से क्रियाओं को करता हुआ दस प्रकार का हो जाता है। तदनुसार इसकी –

(1) प्राण

(2) अपान

(3) समान

(4) उदान

(5) व्यान

(6) नाग

(7) कूर्म

(8) कृकल

(9) देवदत्त

(10) धनञ्जय संज्ञाए हो जाती हैं।

वेदान्त आदि दर्शनों में अन्तिम पाँचों प्राणों को प्रथम मुख्य पाँच प्राणों में ही समाहित किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राण का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। कहा जाता है कि एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य से महाराजा जनक की सभा में सांकल्प नाम के ऋषि ने पूछा ''भगवन् आप और आत्मा किस में ठहरे हुए हो ?'' उत्तर मिला ''प्राण'' में। फिर प्रश्न उठा ''प्राण किस में ठहरा हुआ है ? उत्तर मिला - ''अपान में।'' पुनः प्रश्न हुआ - ''अपान किस में ठहरा हुआ है ? उत्तर मिला ''समान में''। जब इस प्रकार वह लगातार प्रश्न पूछते ही गये, तब याज्ञवल्क्य कहने लगे ''आत्मा अग्राह्य है, असंग है। यह प्राण से व्यथित नहीं होता।[1]

---

1. कस्मिन्नुत्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौस्थ इति प्राण इति, कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित तत्यपान इति, कस्मिन्नवपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति, कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽग्रह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसंगो न हि सज्जते- - - - - - । (बृहद0 उप0 अ0 ३, ब्रा0 ९, मं0 २६)

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि प्राण से ही अपान, समान, उदान व्यान नाग कूर्म कृकल देवदत्त और धनञ्जय निकलते हैं और अन्त में प्राण में ही विलीन हो जाते हैं ।

प्राण का शरीर में वास स्थान -

शरीर प्राण के आधार पर स्थित है और प्राण शरीर में रहता है - ऐसा उपनिषदों में कहा गया है। उपनिषदों में सर्वत्र प्राण की महिमा देखने में आती है। यथा ''प्राण के अन्दर ही सब भूत, जड़ और चेतन रमन करते हैं। यही इन सब का आधार बना है। सर्वभूत इसी में प्रवेश और गमन करते हैं। जो इस प्रकार इसे जानता है वह तत्त्वज्ञानी और आत्मदर्शी होता है। [1]

सम्पूर्ण प्राणियों की आयु प्राण ही है। देह को धारण करने वाला भी प्राण ही है। यह सब दृश्यमान् जगत् प्राण ही है। प्राण को ही ब्रह्म कहा गया है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण चराचर जगत् प्राण पर ही आश्रित है। प्राण को दस प्रकार का कहा गया है - प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय। यह प्राण के दस भाग हैं। प्राण अपने स्थानों में बिना बाधा के सञ्चार करता हुआ देह में सम्यक् प्रकार से अपने कार्य को करता है।

(1) प्राण का वास स्थान - शिर, छाती, कान, जीभ, मुख और नासिका ये प्राण के स्थान हैं।

प्राण के कर्म - थूकना, छींकना, डकार, साँस लेना और आहार (भोजन को निगलना) आदि प्राण के कर्म हैं। [2]

---

1. प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते च एवं वेद। (बृहद० उप० अ० ५, ब्रा० ११, म० १)
2. स्थानं प्राणस्य शीर्षोरः कर्णजिह्वास्थनासिका ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वाससाहारादि कर्म च । (च० सं० १८/५)

(2) **अपान का वासस्थान -** गुदा, उपस्थ, जाँघ, घुटने उदार, कीट, नाभि एवं पिण्डलियों में स्थिर रहता है।[1]

अपान का कर्म - यह वीर्य, मूत्र, पुरीष आर्तव और गर्भ को बाहर निकालता है।[2]

(3) **समान प्राण का वासस्थान और कर्म -** शरीर के मध्य में समान प्राण रहता है। यह खाये अन्न को पचाता है और सम भाग से शरीर में बाँट देता है।[3]

(4) **उदान का वास स्थान -** नाभि, हृदय, कण्ठ आदि उदान के स्थान कहे गए हैं।

उदान के कर्म - वाणी की प्रवृत्ति, प्रयत्न, उत्साह तथा बल वर्ण आदि का करना उदान का कर्म है।[4]

(5) **व्यान का वास स्थान -** शीघ्र गतिवाला व्यान मनुष्यों के सम्पूर्ण देह में आश्रित है।

व्यान के कर्म - गति (चलना फिरना या किसी अंग को हिलाना), प्रसारण (अंग को फैलाना), आक्षेप (अंग को झटका देना), निमेष (पलकें बन्द करना) आदि कर्म व्यान सदा करता है प्रसारण से संकोच और निमेष से उन्मेष (नेत्र खोलना) आदि का भी ग्रहण हो जाता है।[5] प्रश्नोपनिषद् में भी प्राण और उसके उपप्राणों के विषय में ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार कोई स्वतन्त्र सम्राट अपने अधिकारियों को आज्ञा देता है कि तुम्हें इन-इन ग्रामों का व्यवहार देखना है। इस तरह मुख्य प्राण उपप्राणों को

---

1. अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु
   उदरे सफले कट्यां नाभौ जंघे च सुव्रत (जा0 द0 उप0 मं0 २७)
2. शुक्रमूत्राशकृन्ति सः सृजत्यार्तवगर्भौ च (च0 सं0 १८/९)
3. मध्ये तु समानः एष ह्येत द्धुतमन्नं सम नयति (प्र0 उप0 ३/५)
4. उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युराः कण्ठ एष च
   वाङ् प्रवृत्तिः प्रयत्नौर्जोबलवर्णादि कर्म च (च0 सं0 १८/६)
5. देहं व्याप्नोति सर्व तु व्यानः शीघ्रगतिः नृणाम्
   गतिप्रसारणाक्षेप निमेषादि क्रिया सदा (च0 सं0 १८/८)

विविध विभागों में कार्य करने के लिए नियुक्त करता है। इस प्रकार प्राण अपने उपप्राणों को शरीर में पृथक्-पृथक् स्थान पर नियुक्त करता है और उन्हें अपना-अपना कार्य करने के लिए कहता है।[1]

प्राण ने गुदा और उपस्थ इन्द्रियों में अपान को रखा है। ऑख-कान-मुख-नासिका में स्वयं प्राण रहता है। मध्य में समान रहता है।[2] यह समान वायु खाये अन्न को सम भाग से शरीर में बाँट देता है। इसी प्रकार से उदान और व्यान के विषय में भी प्रश्नोपनिषद् में ऋषि बताते हैं कि हृदय में आत्मा रहता है। उस हृदय से १०१ नाड़ियाँ निकलती हैं। उनमें प्रत्येक नाड़ी से सौ-सौ नाड़ियाँ चलती हैं। फिर प्रत्येक से बहत्तर-बहत्तर नाड़ियाँ चलती हैं। इस तरह असंख्य नाड़ियों का जाल सा शरीर बना है। इन नाड़ियों में व्यान सञ्चार करता है।[3]

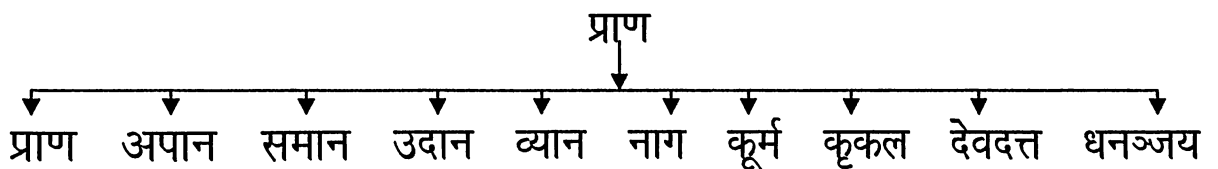
उदान - ऊपर की ओर चलने वाला कण्ठ स्थानीय प्राण उदान कहलाता है।[4] अन्य पाँच प्राण नागादि प्राण चर्म, अस्थि आदि में रहते हैं प्राण के वासस्थानों के विषय में वेदान्तसार में भी कहा गया है कि प्राण अपने आप को दस रूपों में विभक्त करता हुआ शरीर में प्रवेश पाता है-प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान[5] नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय।[6] वेदान्तसार और अन्य सभी दर्शनों में तथा शास्त्रों में अन्तिम पाँचों प्राणों को प्रथम मुख्य पाँच प्राणों में ही समाहित किया गया है।

---

1. यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते, एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते।। (प्र0 उप0 ३/४)
2. पायुपस्थेऽपानं, चक्षुः क्षोत्रेमुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते, मध्ये तु समान (प्र0 उप0 ३/५)
3. ह्राद ह्येष आत्मा अत्रेतदेकशतं नाडीनां, तासां, शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति (प्र0 उप0 ३/६)
4. उदानो नाम कण्ठस्थानीय उर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायु (वे0 सा0 श्लो0 ८१)
5. वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः (वे0 सा0 श्लजो0 ७७)
5. केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति (वे0 सा0 श्लो0 ८४)

प्राण का शरीर मे कार्य –

प्राण की महिमा का उपनिषदों में बहुत स्थलों पर वर्णन आता है। मन और जीवन को स्थिर रखने वाला प्राण ही है। प्रधान रूप से इसका सम्बन्ध हृदय से है। श्वसन क्रिया मुख और हृदयपर्यन्त ही होती है। यदि हृदय की धड़कन बन्द हो जाये, तो तत्काल मृत्यु हो जाती हैं यह प्राण अपने आप को दस रूपों में विभक्त करता हुआ शरीर के विभिन्न स्थानों में जाकर अपने कार्य को करता है। वास्तव में प्राण एक ही है, जिस प्रकार एक वृक्ष की अनेक शाखाएं होती हैं, किन्तु उसकी जड़ एक ही होती है। जब तक उसकी जड़ सुरक्षित है, तभी तक उसकी शाखाएँ हरी-भरी रह सकती हैं। जब जड़ सुरक्षित नहीं रहती, तो उसकी शाखाएँ भी सुरक्षित नहीं रहतीं । उसी प्रकार प्राण भी एक है, उसकी आगे दस शाखाएं निकलती हैं, परन्तु जब तक प्राण सुरक्षित है, तभी तक उसकी शाखाएं अर्थात् प्राण के भाग सुरक्षित रहते हैं। प्राण दस भागों में विभक्त होता हुआ भी एक है और दस रूपों में बाँटने के बाद भी एक ही है। प्राण के विषय में महाराजा जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा था कि प्राण क्या है, तब उन्होंनें बताया कि प्राण ही बल है। बिना प्राण के मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता । अतः शरीर में प्राण का ही महत्त्व बताया गया है। प्राण के दस रूप इस प्रकार से हैं :-



प्राण इन दस रूपों में रहता हुआ समान रूप से कार्य करता है।

प्राण का कार्य – मुख और नासिका इन दोनों से निकलता हुआ सम्राट् स्थानीय प्राण चक्षु और श्रोत्र में स्थिर रहता है। नाक पर हाथ लगाने से इसका प्रत्यक्ष अनुभव

भी होता है। इसी से इसे नासाग्रस्थानवर्ती भी कहा जाता है। अर्थात् नाक के अग्रभाग में रहने वाली वायु प्राण कहलाती है। [1]

अपान का कार्य - अपान गुदा और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) में विद्यमान रह कर पुरीष (मल) आदि को निकालने का कार्य करता है अर्थात् निम्न गमन वाली पायु (गुदादि) स्थानों में रहने वाली अपान वायु है। [2] अपान के विषय में प्राणविज्ञान में भी कहा गया है कि अपान का कार्यक्षेत्र नाभि से आपादतल तक है। अपान के प्रदेश में दो इन्द्रियाँ अर्थात् उपस्थ और गुदा कार्य करती हैं। इनके बिना शारीरिक स्वास्थ्य और निरोग जीवन असम्भव है। मूत्र त्याग तथा मल विसर्जन इनका धर्म है। ये दोनों इन्द्रियाँ गुरुत्वधर्म वाली हैं अतः अपान ही मल-मूत्र के विसर्जन का हेतु होता है।

समान का कार्य - शरीर में खाये-पिये हुए अन्नादि को अच्छी प्रकार से परिपक करने वाला समान प्राण कहलाता है। [3] समान प्राण के विषय में उपनिषदों में कहा गया है कि इसका निवास हृदय से नाभि में होता है। समान प्राण का कार्य सम्पूर्ण शरीर को समान अवस्था में रखना है। [4]

प्रश्नोपनिषद् में समान प्राण के विषय में कहा गया है कि शरीर के मध्य में समान प्राण रहता है। यह समान प्राण खाये अन्न को पचाता है और सम भाग से शरीर के विविध विभागों में बाँट देता है। इससे ये सात ज्वालाएँ चलती हैं अर्थात् सात इन्द्रियाँ चलती हैं [5] (दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख) मिलकर सात प्रकाश किरण आत्मा से निकलते हैं। प्रत्येक मनुष्य इन शक्तियों का अनुभव अपने

---

1. प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती (वे0 सा0 श्लो0 ७८)
2. अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती (वे0 सा0 श्लो0 ७९)
3. समानो नाम शरीरमध्यगतशितापीतान्नादिसमीकरणकरः (वे0 सा0 श्लो0 ८२)
4. समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुगव (जा0 द0 उप0 ४/३१)
5. मध्य तु समानः एष ह्येत ध्रुतमन्नं
   सम नयति, तस्मादताः सप्रार्चिषो भवन्ति (प्र0 उप0 ३/५)

शरीर में करता है। अग्नि की सात ज्वालायें यही हैं। सत्य किरण, सप्त ज्वाला, सप्त ऋषि यह कल्पना ऋषिकाल की है।

उदान प्राण का कार्य – ऊपर की ओर चलने वाला कण्ठ स्थानीय प्राण उदान कहलाता है।[1] कहने का तत्पर्य यह है कि ऊपर की ओर जाने वाली वायु, आँख, कान, शरीर या अन्य किसी शरीर के अवयव से निकाली जाने वाली होने से किसी भी द्वार से जाते समय कण्ठ से अवश्य निकलेगी, अतः इसे कण्ठस्थानीय कहा गया है ।

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि हमारे शरीर में अनेक नाड़िया हैं। उन नाड़ियों में से सुषुम्ना नाम की एक नाड़ी द्वारा ऊपर की ओर गमन करने वाला उदान प्राण कहलाता है। ये उदान प्राण जीवन को पुण्य कर्म द्वारा पुण्यलोक और पापकर्म द्वारा पापमय लोक को ले जाता है तथा पुण्य पाप दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा उसे मनुष्य लोक प्राप्त होता हैं।[2]

व्यान प्राण का कार्य – शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि कान, आँख, कमर, गुल्फ, नाक, गला और कूल्हे के स्थानों में व्यान रहता है।[3] प्राणविज्ञान में कहा गया है कि शरीर की रचना में सर्वप्रथम आकाश भूत सहकारी बना। तदनन्तर व्यान प्राण भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गया । आकाश से व्याप्त शरीर के सभी भागों में व्यान प्राण समा गया और शरीर में सर्वत्र अपना कार्य करने लगा। इस प्रकार शरीर में आकाश के पश्चात् या साथ-साथ ही सर्वप्रथम व्यान प्राण को धारण किया, जो सूक्ष्म रूपेण उसमें व्याप्त हुआ और फलतः उसकी व्यान संज्ञा हुई ।

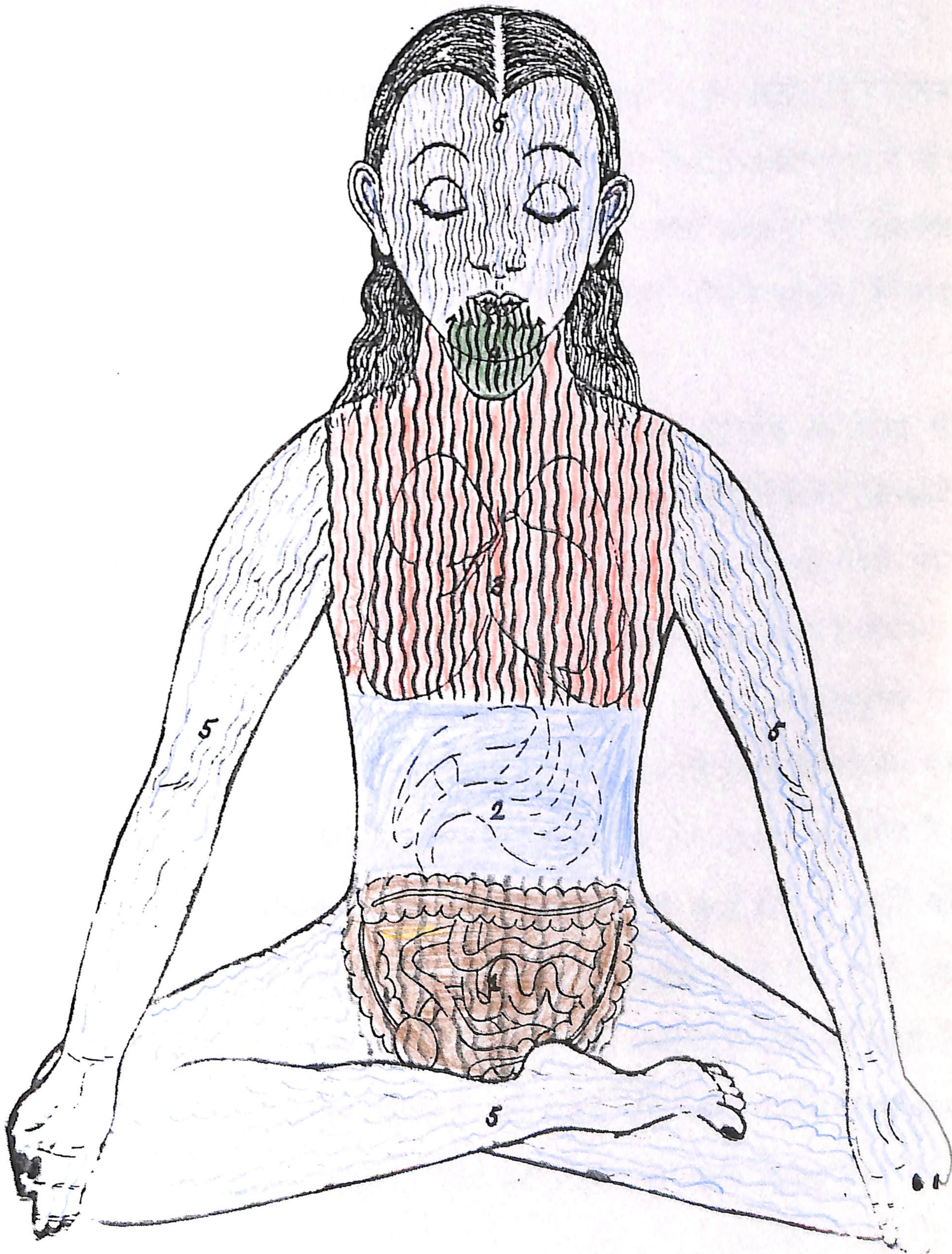
---

1. उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायु (वे0 सा0 श्लो0 ८१)
2. अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोक नयति,
   पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् (प्र0 उप0 ३/७)
3. श्रोत्राक्षिकटिगुल्फघ्रणगलस्फिग्देशेषु व्यान संचरति (शा0 उप0 ४/१४)

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि हृदय में आत्मा रहता है। उस हृदय से १०१ नाड़ियाँ निकलती हैं। उनमें से प्रत्येक नाड़ी से सौ-सौ नाड़ियाँ चलती हैं। फिर प्रत्येक से बहत्तर-बहत्तर नाड़ियाँ होती हैं। इस तरह असंख्य नाड़ियों का यह जाल-सा शरीर बना है इन नाड़ियों में व्यान सञ्चार करता है।[1] ज्ञानीजन व्यान वायु को ध्वनि व्यंजक कहते हैं।[2] इस चित्र में पाँच प्रकार के प्राणों के विभिन्न रंग और शरीर में उनकी गति दिखाई गई है। मूलाधार में मिट्टी का रंग अपान का है। नाभि में नीला रंग समान प्राण का है हृदय में लाल रंग प्राण का दिखाया है उसमें अग्नि की प्रधानता के कारण लाल रंग दिखाया गया है कण्ठ में कुछ हरे रंग का उदान प्राण है और व्यान प्राण को सर्व शरीर में गमन किंचित नीली धारियों में दिखाया गया है।

---

1. ह्राद ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां, तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासपतिर्द्वासपतिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति। (प्र0 उप0 प्र0 ३ म0 ६)
2. व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः (जा0 उप0 ख0 ४, म0 ३२)


6
5
6
2
5

इन पाँच प्राणों के अतिरिक्त अन्य पाँच प्राणों का वर्णन इस प्रकार से है जिन्हें उपप्राण कहा जाता है।

नाग उपप्राण का कार्य - जाबालदर्शनोपनिषद् में कहा गया है कि डकार आना वमन आदि करना यह नाग प्राण का कार्य है।[1] नाग प्राण का निवास स्थान मुख में है। इसी कारण डकार और हिचकी इसके दो बड़े कार्य हैं। इसमें वायुभूत की प्रधानता होती है। इसका कार्यक्षेत्र मुख में ही है नाग प्राण का कार्य समाधि अवस्था में बन्द रहता है।

कूर्म का कार्य - नेत्र खोलना, बन्द करना आदि कर्म कूर्म उपप्राण की प्रेरणा से होते हैं[2] प्राण विज्ञान में कहा है कि कूर्म उपप्राण जागृतावस्था में निमेषोन्मेष का कार्य करता है। देवताओं के शरीर में निमेषोन्मेष कर्म नहीं होता क्योंकि उनकी पलकें सदा खुली रहती हैं कुछ व्यक्ति ध्यान समाधि में अपनी पलकों को खुला रखते हैं दीर्घकाल तक खुली रहने के पश्चात् आँखों को बन्द करते समय कुछ पीड़ा का अनुभव तो होता ही है, कुछ लोक तो निद्रा में भी खुली आँखों से सोते हैं परन्तु निमेषोन्मेष को रोकना हानिकारक ही सिद्ध होता है अन्त में इसका परिणाम अच्छा नहीं होता है। आँखों का चिरकाल तक खुले रहना पुतलियों की तरलता को सुखा देता हैं आूखों की झपकन बीच के गोलकों तथा कायों को तरल रखने में सहायक होती है। घण्टों तक आँखों को खुली रखने से इनका पानी सूख जाता है। कभी-कभी जम भी जाता हैं यही शनैः शनै मोतिया बिन्द बन जाता है और कभी शनैः शनैः नेत्रज्योति भी कम होने लगती है इसलिए हमारी आँखों के लिए कूर्म उपप्राण का बहुत महत्त्व है।

---

1. उदगारादिगुणः प्रोक्तो, व्यानख्यस्य महामुने (जा0 द0 उप0 ४/३३)
2. निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधा तु (जा0 द0 उप0 ४/३४)

कृकल उपप्राण का कार्य - इस उपप्राण का निवासस्थल तथा कार्यक्षेत्र मुख ही है। इसका कार्य जम्भाई लेना है। यह क्षुधा और पिपासा भी उत्पन्न करता है और श्वास-प्रश्वास में सहायक होता है। जृम्भा के समय मुख में होने वाली इसकी प्रक्रिया को हम प्रत्यक्ष देखते हैं ।

देवदत्त उपप्राण का कार्य - देवदत्त प्राण को तन्द्रा और आलस्य का कारण कहा गया है।[1] प्राणविज्ञान में कहा गया है कि - देवदत्त उपप्राण का निवास स्थान नासिका में है नासिका अपने उपादान कारण गन्ध का उपभोग करती है यह ज्ञानेन्द्रियों में से एक है इसमें गन्ध तन्मात्रा की प्रधानता है। देवदत्त उपप्राण में कभी-कभी छींक का प्रादुर्भाव होता है। छींक के समय जो क्रिया नासिका में होती है। वह सरराहट और जलन के रूप में होती है। उसी काल में इसके कारण का साक्षात्कार होता है।[2]

निद्रा और तन्द्रा में देवदत्त का कार्य एक समान होता है । जागृत् में कभी-कभी छींक अवश्य लेनी चाहिए। इससे मस्तिष्क के तन्तु और नाड़ियाँ खुल-सी जाती हैं। सिर दर्द में छींक आने से दर्द कम हो जाता है। सिर में हल्कापन आ जाता है।[3]

धनञ्जय उपप्राण का कार्य - धनञ्जय उपप्राण अकाशवत् समस्त शरीर में व्याप्त रहता है इसका सम्बन्ध स्पर्शेन्द्रियों से होता है।

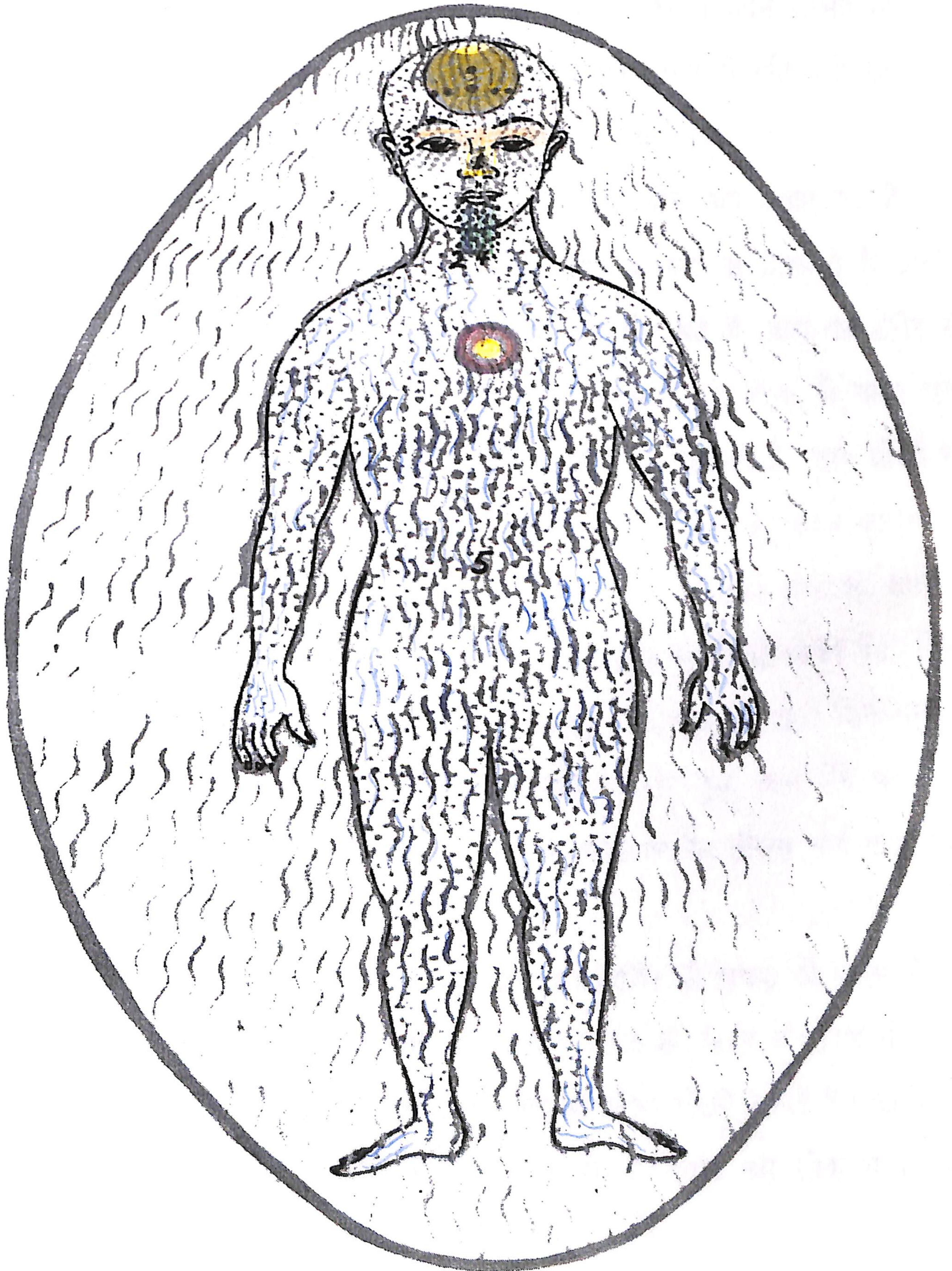
जाबालदर्शनोपनिषद् में कहा गया है कि धनञ्जय देह में शोभा आदि का सम्पादन करता है।[4]

इस चित्र में पाँचों उपप्राणों को दर्शाया गया है जिनका सम्बन्ध प्राय कण्ठ से ऊपर के भाग से है केवल धनञ्जय प्राण को नीचे सम्पूर्ण शरीर में नीली रेखाओं

---

1. देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्म प्रकीर्तितम् ।। (जा0 द0 उप0 ४/३४)
2. प्राण विज्ञान (पृष्ठ ८१)
3. प्राण विज्ञान (पृष्ठ ८२)
4. धनञ्जयस्य शोभादि कर्म प्रोक्तं हि सांकृते (जा0 द0 उप0 ४/३३)

द्वारा बहते हुए दिखाया गया है कंठ, मुख, नासिका, नेत्रों में उपप्राणों के विभिन्न रंग दिखाए गए हैं तथा उनके व्यापारो का वर्णन किया गया ।



प्राण का शरीर से निष्क्रमण -

प्राण जीवन का मूल आधार है। दस प्राण मिल कर शरीर में जीवन का प्रसार करते है।। प्राण के शरीर में रहते ही भोग और अपवर्ग का सम्पादन सम्भव होता है। जब तक शरीर में प्राणशक्ति गतिमान् रहती है, तब तक शरीर में गति बनी रहती है। प्राण के बिना शरीर को मुर्दा एवं जीवनरहित समझा जाता है।

उपनिषदों में प्राण के शरीर से निष्क्रमण के भी तीन मार्ग बताए गए हैं कहा जाता है कि जो ब्रह्मज्ञानी पुरूष होते हैं उनके प्राण ब्रह्मरन्ध्र से निकलते हैं अर्थात् सिर के मध्य भाग से निकलते हैं और वह ब्रह्मलोक को जाते हैं, प्राण का शरीर से निष्क्रमण का दूसरा मार्ग सप्त इन्द्रियाँ हैं, जिसमें दो आंखें, दो कान, दो नाक, एक मुख ये कहे जाते हैं। जिन मनुष्यों के प्राण इन मार्गों से निकलते हैं, जैसे आँखों से पानी आना, या नाक से खून आना आदि मार्ग से प्राण निकलते हैं। कहने का तात्पर्य है कि ऊपर के अंगों से जिन मनुष्यों के प्राण निकलते हैं वे स्वर्ग लोक को जाते हैं और पुनः जन्म लेने पर उच्च योनि में पैदा होते हैं और सुखों को भोगते हैं। जिन मनुष्यों के प्राण नीचे के मार्गों से निकलते हैं अर्थात् मल, मूत्र, के द्वारा जिन मनुष्यों के प्राण निकलते हैं, वह नरकलोक को प्राप्त होते हैं और पुनः जन्म लेने पर नीच योनियों को प्राप्त करते हैं। यह प्राण के शरीर से निष्क्रमण का तीसरा मार्ग कहा गया है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्राण जब शरीर से पृथक् हो जाता है तो शरीर निर्जीव हो जाता है। शरीर का अस्तित्व प्राण पर ही निर्भर है। प्राण के बिना शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है अनेक प्रकार की बीमारियाँ फैलने लगती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राण के शरीर में वास करने से ही मनुष्य इस लोक में साधना द्वारा अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।



प्राण एवं जीवात्मा का आश्रय परब्रह्मपरमात्मा

सच्चिदानन्द सर्वाधिकार परब्रह्म, परमात्मा सदैव प्रत्येक दशा में परिपूर्ण है । यह चराचर एव स्थावर जंगम आदि जगत् भी उस परिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा से ही पूर्ण है, क्योंकि यह परिपूर्ण अर्थात् व्यापकस्वरूप जगत् उस परिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है इस प्रकार उस सर्वव्यापी पर ब्रह्म परमात्मा की पूर्णता से ही वह अखिल भूमण्डल व्याप्त चराचर जगत् भी परिपूर्ण है। अतः यह निर्विवाद स्पष्ट हो जाता है कि वह परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। उस पूर्ण परब्रह्म परमात्मा में से यदि यह पूर्ण तत्त्व निकाल भी लिया जाए तो भी वह असीम सत्ताजन्य व्यापक परब्रह्म पूर्ण ही शेष रहता है। उस परब्रह्म परमात्मा की व्यापकता सर्वत्र व्याप्त है [1] जैसे आकाश सर्वत्र फैला हुआ है, वैसे ही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। सत्य ही उसका निज स्वरूप है। प्राणों का जिसमें आश्रय होता है, प्राणों का जो आधार है, प्राणों को जहाँ विश्राम मिलता है, मन को जहाँ आनन्द प्राप्त होता है। परब्रह्म परमात्मा ने ही इस शरीर की रचना की है, जिस में प्राण वास करता है। परमात्मा ने शरीर की रचना करने के बाद उसमें विभिन्न देवताओं को भिन्न-भिन्न अंगों में निवास करने का आदेश दिया और देवता आदेश पाकर शरीर के विभिन्न स्थानों में सुखपूर्वक रहने लगे। वास्तव में यह मनुष्य शरीर देवताओं का सुन्दर निकेतन है।

सर्वप्रथम परब्रह्म परमात्मा ने ही प्राण की रचना की है। ब्रह्म से ही प्राण की

---

1. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।। (ईशा0 उप0 मं0 १)

उत्पत्ति हुई है। इसी से प्राण जीवित रहता है और अन्त में इसी में जाकर मिल जाता है।

प्राणिमात्र के हृदय में समस्त देवता रहते हैं, हृदय में प्राण स्थिर है और हृदय में ही प्राण और ज्योति है। इस प्रकार तीन स्वरूपों में परमात्मा रहता है। इस तथ्य को सूचित करने वाले तीन धागों वाला 'यज्ञ-सूत्र' अथवा जनेऊ है, ऐसा इसके रहस्यों को समझने वाले कहते हैं हृदय में परमात्मा चैतन्य रूप में रहता है।[1] परब्रह्म परमात्मा एक ही है उसने अपने अन्दर सभी देवी-देवताओं का समावेश किया हुआ है, जो व्यक्ति ब्रह्म में विभेद देखता है, वह मृत्यु से पुनः मृत्यु का गमन करता है। केवल सुसंस्कृत बुद्धि ही अभेद दृष्टि प्राप्त कर सकती है।

''कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह मनुष्य शरीर बड़े पुण्य से प्राप्त होता है। इस मानव शरीर के सर्वोत्कृष्ट स्थान हृदय में विद्यमान आकाश में जीवात्मा अर्थात् प्राण निवास करता है तथा परमात्मा भी सर्वव्यापक होने से हृदयाकाश में निवास करता है। इस प्रकार दोनों के निवास स्थान शरीररूपी पुरी में एक ही हैं, किन्तु दोनों के भोग में बड़ा अन्तर है। दोनों ही शरीर में रहने के कारण भोक्ता कहे गए हैं, परन्तु परमात्मा भोक्ता होते हुए भी अभोक्ता है, क्योंकि वह मानव शरीर में स्वयं कर्म नहीं करता है। वहाँ तो कम्र का कर्ता जीवात्मा है। अतः कर्मो के फलों का भोक्ता भी वही है। इस प्रकार एक साथ रहने पर भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों छाया और धूप के समान भिन्न हैं। जीवात्मा छाया के समान स्वल्प-प्रकाश-युक्त अथवा अल्पज्ञ है और परमात्मा धूप के सदृश पूर्णप्रकाश सर्वज्ञ है। परन्तु इस प्रकार छाया में जो कुछ प्रकाश का अंश है, वह धूप का ही है। इसी भाँति जीवात्मा में जी ज्ञान स्वरूप है

---

1 ''हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः हृदि
प्राणश्च ज्योतिश्च त्रिवृसूत्रं च तद्विदुः हृदि चैतन्येतिष्ठति'' (ब्र0 उप0 मं0 ४)

वह परमात्मा का ही रूप है। छाया और धूप का जो सम्बन्ध है वही जीवात्मा एवं परमात्मा का भी है बिना धूप के छाया का अस्तित्व नहीं रह सकता है। धूप के प्रकाश में ही छाया का अस्तित्व रहता है। इसी प्रकार परमात्मा के अस्तित्व के साथ जीवात्मा का अस्तित्व है। इस रहस्य को जान कर मनुष्यों को अपने में किसी भी प्रकार की शक्ति आदि का अभिमान नहीं करना चाहिए और सदा अपने हृदय में निवास करने वाले सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा का चिन्तन करते रहना चाहिए क्योंकि प्राण एवं जीवात्मा का आश्रय वही परब्रह्म परमात्मा है।[1]

परब्रह्म प्राप्ति का उपायरूप ॐ (ओंकार)

ॐ ही ब्रह्म है। जो ब्रह्म है, वह ओंकार से बताया जाता है[2] ओंकार में ही समस्त विश्व है, जो यहाँ है वह सब ओंकार से वर्णित होता है।[3]

प्रश्नोपनिषद् में ओंकार के विषय में पूछते हुए "शिबि के पुत्र सत्यकाम ने पिप्पलाद मुनि से पूछा कि जो साधक मरणपर्यन्त ओंकार का ध्यान करता है, वह किस लोक को जाता है[4] उत्तर में पिप्पलाद मुनि कहते हैं कि यह ओंकार परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म, दृश्य और अदृश्य यह सब ओंकार से बोधित होता है। इसलिए केवल एक ही ओंकार के आलम्बन से दोनों ब्रह्मों की प्राप्ति होती है।[5]

---

1. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
   गुहां प्रविष्टो परमे परार्धे
   छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
   पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता (कठ0 उप0 १/३/१)
2. ॐ इति ब्रह्म - (तै0 उप0 अनु0 ८ मं0 १)
3. ॐ इति सर्वम् - (तै0 उप0 अनु0 ८ मं0 २)
4. अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ, स यो ह वै तद्भगवन
   मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत, कतमं वाव स तेन
   लोकं जयतीति, तस्मै स होवाच (प्र0 उप0 प्र0 ५, म0 १)
5. एतद्वैसत्यकाम ! पर चापरं च ब्रह्म यदोंकारः तस्माद्विद्वानेतेनैवायतानैकरमतन्वेति (प्र0उप0प्र0 ५, म0 २)

पिप्लाद मुनि सत्यकाम से कहते हैं कि साधक यदि मरते समय ओंकार की अकार रूप प्रथम मात्रा का साधन ध्यान करता है, तो वह उससे ज्ञान प्राप्त करके जगत् में जन्म लेकर मनुष्य लोक में उन्नति का मार्ग प्राप्त करता है। यहाँ उसको ऋग्वेद के मन्त्र सहायक होते हैं, वे उसकी उन्नति करते हैं। यहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा से युक्त होकर इस जगत् में महत्त्व को प्राप्त करता है।[1]

इसे पश्चात् कोई ओंकार की द्विमात्रा का ध्यान करता है 'अ - उ' इन दो मात्राओं का जो ध्यान करता है, वह अन्तरिक्ष लोक में यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा ऊपर उठाया जाता है और सोमलोक को प्राप्त होता है। वह सोमलोक में अपनी विभूति का अनुभव करके पुनः दूसरा जन्म लेकर लौट आता है ।[2]

इन दोनों के पश्चात् यदि कोई ओंकार के तीनों - अ - उ - म - इनकी उपासना करता है, वह परम श्रेष्ठ पुरुष का ध्यान करता है। वह तेजोमय सूर्य लोक में पहुँच जाता है और पाप से मुक्त हो जाता है। अर्थात् निर्मल हो जाता है। जिस तरह साँप केंचुली से छूट जाता है, वैसे वह पाप से मुक्त हो जाता है और उच्च स्थान पर विराजता है। यहाँ इस साधक को सामवेद के मन्त्र ऊपर उठाते हैं, वह इस जीवन के धनीभूत केन्द्र से भी ऊँचे परात्पर परमपुरुष का साक्षात्कार करता है। किसी तरह का पाप, कलेश, दुःख, दोष मल कुछ भी इसके पास नहीं रहता । वह परम पवित्र बन जाता है।[3]

---

1. स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव
   जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते,
   स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति (प्र0 उप0 ५/३)
2. अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते। सोऽन्तरिक्षें
   यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं , स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते (प्र0 उप0 ५/४)
3. यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोनित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमाभि ध्यायति, स तेजसि सूर्ये संपन्नः ।
   यथा पादोदरस्त्वया विनिर्मुच्यत, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः, स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं,
   स एतस्माज्जीवधनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । तदेतौ श्लोकौ भवतः (प्र0 उप0 ५/५)

ओंकार की तीन मात्राएँ हैं। उनके फल भी विलक्षण हैं इनका पृथक्-पृथक् प्रथम प्रयोग करने से दुःख प्राप्त होता है, परन्तु उनका मिलकर सम्यक् प्रयोग ब्राह्यभ्यन्तर क्रियाओं में करने से अर्थात् पृथग्भाव रहित प्रयोग करने से मनुष्य दुःख से मुक्त हो जाता है। उसको भय प्राप्त नहीं होता है। अ - उ - म - ये तीन ओंकार के अन्तर्गत अक्षर हैं और इनमें ऋग्वेद-सामवेद-यजुर्वेद का बोध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन तीनों का सम्यक् प्रयोग करके लाभ उठाना चाहिए। अतः ओंकार का उच्चारण करने वाला साधक अपनी इच्छा से कह सकता है कि मैं ब्रह्म को प्राप्त करूंगा और ओंकार से वह ब्रह्म को प्राप्त भी कर सकता है।[1] क्योंकि ओंकार ही ब्रह्म है, जो साधक ओंकार का उच्चारण करता है, उसे परब्रह्मपरमात्मा की प्राप्ति अवश्य होती है।

---

1. ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्न्नाह ब्रह्मोपानवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति (तै० उप० अनु० ८ म० ४)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक या सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अथर्ववेद	निगम	वैदिक पुस्तकालय अजमेर	2019 सं
2.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीताप्रैस गोरखपुर(यू0 पी0)	2051 सं
3.	ऋग्वेद	निगम	वैदिक पुस्तकालय अजमेर	2019 सं
4.	ऐतरेयोपनिषद्	निगम	गीताप्रैस गोरखपुर	1949
5.	कठोपनिषद्	निगम	चौखम्बा विद्याभवन	1968
6.	केनोपनिषद्	निगम	मोतीलाल वाराणसी	1994
7.	कौषीतकिब्रह्मणोपनिषद्	निगम	गीताप्रैस गोरखपुर	1949
8.	चरक संहिता	चरक	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़	1994
9.	छान्दोग्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	1949
10.	जाबालदर्शनोपनिषदृ	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	2051 सं
11.	तैत्तिरीयोपनिषद्	पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मंडल पारडी	1956
12.	तन्त्रालोक	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1918
13.	परमार्थतत्वविवेक	-	मोतीलाल वाराणसी	1954
14.	प्रश्नोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	1949
15.	प्राणविद्या	निगम	वैदिक पुस्तकालय अजमेर	2019 सं

16.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	1949
17.	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य	शंकराचार्य	मोतीलाल बनारसीदास पटना	-
18.	ब्रह्मोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	1949
19.	माण्डूक्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	1956
20.	मुण्डकोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	1949
21.	योग सूत्र	डॉ पवन कमारी गुप्ता	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली	1981
22.	योग दर्शन	डॉ सम्पूर्णानन्द	हिन्दी समिति उत्तरप्रदेश लखनऊ	1965
23.	वाजसनेयि सहिता यजुर्वेद	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	2019 सं
24.	वेदान्तसार	सदानन्द	चौखम्बा विद्या वाराणसी	1973
25.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	1949
26.	शिवसुत्र	वसुगुप्त	मोतीलाल वाराणसी	1981
27.	शाण्डिल्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस गोरखपुर	1976
28.	हारीत स्मृति	सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1966

